जैन भारती

वर्ष 54 • अंक 5 • मई, 2006

With Best Compliments From :

HIRALAL MALOO
HEMANT MALOO
(SUJANGARH)

MALOO CONSTRUCTIONS

A-204, IInd Floor, 25/26, Brigade Majestic
Ist Main Road, Gandhinagar, Bangalore 560009
Phone : Office : 22264530, 22265737, Res. : 23403233, 23402756
Mobile : 9844027560 ◆ e-mail : maloocons@vsnl.com

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 54 • मई, 2006 • अंक 5

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
आत्मवाद : विविध पहलू

15
प्रो. कल्याणमल लोढ़ा
पुनर्जन्म : एक विवेचन

22
समणी सत्यप्रज्ञा
श्रद्धा-भक्ति : सघनतम विश्वास

•
आवरण
अडिग

अनुभूति

27
पांडुरंग सदाशिव साने
भारतीय संस्कृति की धुरी—ध्येयनिष्ठा

32
मुनि मदनकुमार
पत्तेयं पुण्णपावं

35
समणी अमितप्रज्ञा
जीवन-यात्रा के पड़ाव

38
कहानी
हरमन हेस
नदी तट पर

42
कविता
श्रीराम वर्मा की कविता

प्रसंग

5
शुभू पटवा
कर्म अवलंबन

शीलन

45
डॉ. महावीरराज गेलड़ा
आगम : एक अतींद्रिय विषय

51
मुनि संबोधकुमार
सामुदायिक स्वस्थता : कुछ आधार सूत्र

54
बालकथा
शंकर
अमरफल

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

बासी रोटी सजीव या अजीव?

अमुक-अमुक संप्रदाय वालों में कुछ तो बासी रोटी, जिसे तोड़ने पर लार जैसी निकलती है, में द्वींद्रिय जीव बतलाते हैं। वे ऐसा कहते हैं—'जैसे पैर से नहेरूवा निकलता है, वैसे ही रोटी में लार निकलती है।' और उनमें से कुछेक भिक्षा में बासी रोटी प्राप्त कर खा लेते हैं। इस विषय पर स्वामीजी ने दृष्टांत दिया—'कोई मुट्ठी भरकर चने और गेहूं खाता है, उसे साधु कहा जाए या असाधु?'

तब वे बोले—'गेहूं खाने वाला असाधु कहलाएगा।'

तब स्वामीजी बोले—'यदि गेहूं खाने वाला असाधु कहलाएगा, तो कृमियों को खाने वाला साधु कैसे कहलाएगा? जो बासी रोटी में जीव बतलाते हैं, उनके मतानुसार बासी रोटी खाने वाला कृमि खाने वाला होता है। कृमि खाने वाले को साधु कैसे कहा जाए? इस न्याय से बासी रोटी में जीव बताने वालों के मतानुसार बासी रोटी खाने वाले असाधु ठहरे।'

'और जो बासी रोटी खाते हैं, उनसे पूछा जाए—जो झूठ बोलता है, वह साधु या असाधु?' तब वे कहेंगे—'असाधु।'

तब स्वामीजी बोले—'तुम तो बासी रोटी को अजीव बतलाते हो, और वे बासी रोटी में द्वींद्रिय जीव बतलाते हैं। इस प्रकार तुम्हारे ही मतानुसार वे असत्यभाषी कहलाएंगे। फिर उन्हें साधु कैसे कहा जाए?

'तथा तुम तो बासी रोटी को अजीव बतलाते हो और वे बासी रोटी में जीव बतलाते हैं। और अजीव को जीव मानता है, उसे मिथ्यात्वी कहा जाता है। तुम्हारे मतानुसार बासी रोटी में जीव मानने वाले मिथ्यात्वी कहलाएंगे।'

इस प्रकार 'क' के मतानुसार 'ख' असाधु है और 'ख' के मतानुसार 'क' असाधु है। और वे कहते हैं—'हम परस्पर एक-दूसरे को साधु मानते हैं'। ऐसा मिथ्यात्व रूपी अंधकार उनके घर में है। •

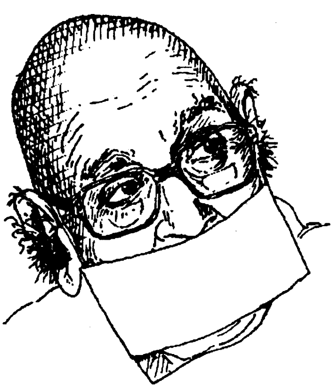

धर्म मूलतः व्यक्तिगत होता है। जहां वह अपने व्यक्तिगत स्वरूप को विस्तार देकर समष्टिगत बनता है, सामूहिकता स्वीकार करता है—वह नैश्चयिक धरातल से उतरकर व्यवहार-शुद्धि से संयुक्त हो जाता है। व्यवहार-शुद्धि की अपेक्षा वहीं रहती है, जहां व्यक्ति आत्म-व्यतिरिक्त व्यक्तियों के साथ संपर्क स्थापित करता है। एक दृष्टि से अध्यात्म कर्तृनिष्ठ और नैतिकता कर्मनिष्ठ है, पर हैं दोनों धर्म। जो व्यक्ति सीधे अध्यात्म की गहराई तक पहुंच जाते हैं, उनके लिए नैतिक मूल्यों का स्वतंत्र विकास करने की अपेक्षा नहीं रहती। क्योंकि नैतिकता अध्यात्म का ही सहज फलित है। किंतु, जो व्यक्ति आत्म-तत्त्व की गहराइयों तक नहीं पहुंच पाए हैं, उनके लिए उस दिशा में प्रवेश पाने के लिए नैतिकता की आचार-संहिता को आदर्श मानकर चलना आवश्यक हो जाता है। यही नैतिकता आगे चलकर स्वयं अध्यात्म में परिणत हो जाती है।

—आचार्यश्री तुलसी

परिवार, कानून और अहिंसा—ये तीन शब्द वर्तमान के साथ जुड़े हुए हैं। पर, एक 'अहिंसा' शब्द पर ही यदि अच्छी तरह से विचार किया जाए तो बहुत-सी समस्याओं का समाधान प्राप्त किया जा सकता है। परिवार में अहिंसा की नीति का विकास हो तो परिवार में शांतिपूर्ण सहवास का वातावरण निर्मित किया जा सकता है। परिवार के विकास में महिलाओं की मुख्य भागीदारी रहती है। अतः अपेक्षा है कि महिलाएं प्रतिक्रियात्मक संवेदना से मुक्त रहती हुई, उस संवेदना का विकास करें, जिससे दूसरों को सहारा मिले तथा परिवार, समाज व संस्था का विकास हो।

× × ×

धर्म के अनेक रूपों में एक रूप है—उपासना। पद्धति अलग-अलग हो सकती है, लेकिन नैतिकता एक ऐसा धर्म है, जिसमें कोई भेद नहीं होता। अणुव्रत नैतिकता और आचारशुद्धि पर बल देता है।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

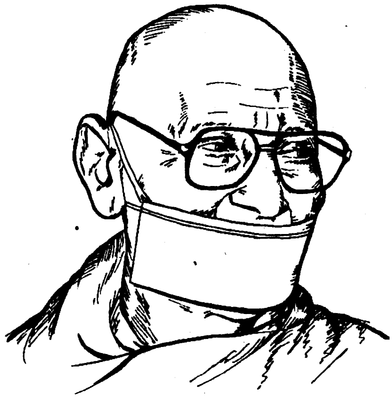

शरीर, प्राण और चेतना—इन तीनों के योग का नाम है—जीवन। कोरा शरीर ही जीवन हो तो मरने के बाद भी जीवन होता, किंतु मरने के बाद शरीर रहता है, जीवन नहीं होता। शरीर में जीवन है—प्राणशक्ति। प्राण भी स्वतंत्र नहीं है। प्राण को संचालित करने वाली शक्ति है— चेतना। इन तीनों का योग है तो जीवन है, अन्यथा नहीं। तीनों में से एक का भी अभाव सारे तंत्र को अस्त-व्यस्त कर देता है।

आदमी का सारा ध्यान आज शरीर पर ही अटक गया है। स्वाभाविक भी है कि जो सामने आता है, उसी पर ज्यादा ध्यान जाता है। जो सामने नहीं आता, उस पर ध्यान कम जाता है। स्थूल पर ध्यान ज्यादा जाता है। सूक्ष्म पर उतना ध्यान नहीं जाता। शरीर स्थूल है। मन सूक्ष्म है। चेतना उससे भी अधिक सूक्ष्म है। उस पर ध्यान जाता ही नहीं है।

आयुर्विज्ञान के क्षेत्र में शरीर पर बहुत खोज हुई है। शरीर की एक-एक कोशिका के विषय में सूक्ष्म ज्ञान किया गया है। आज भी अन्वेषण चल रहे हैं, प्रयोग हो रहे हैं, किंतु, प्राणशक्ति पर अभी पर्याप्त काम नहीं हुआ है। विज्ञान यंत्रों द्वारा काम करता है। जबकि प्राणशक्ति का अनुशासन कर सके, ऐसा कोई यंत्र बना नहीं है। इसलिए यह विज्ञान की पकड़ से बाहर है। प्राण सूक्ष्म है, चेतना सूक्ष्मतम है। इसलिए सारा ध्यान टिका हुआ है स्थूल पर, शरीर पर। खाद्य पदार्थों की भरमार, दवाओं की प्रचुरता—ये सब इसलिए हैं कि शरीर स्वस्थ रहे। शरीर की चिंता सबको है, पर आश्चर्य इस बात का है कि शरीर को चलाने वाले की चिंता किसी को नहीं है। संभवतः यही कारण है कि आज बीमारियां और अकालमृत्यु अधिक हैं।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

कर्म अवलंबन

मात्र मनुष्य ही नहीं, हर जीवधारी अपना कर्म तो करता ही है। वनस्पति जगत के लिए भी यही बात कही जा सकती है कि उसका स्वधर्म भी कर्म करने में ही सन्निहित है। मनुष्य, चूंकि जीवधारियों में सर्वोत्कृष्ट प्राणी है और जो-कुछ वह करता है उससे सभी प्रभावित होते हैं, अतः मनुष्य का कर्म दूसरों की तुलना में विशिष्ट और भिन्न होना स्वाभाविक है। साक्रेटीज जैसे मनीषी-दार्शनिक कहते हैं कि—'मनुष्य जो-कुछ पाप करता है, वह अज्ञानता-वश ही करता है।' इस तरह यह माना जाना चाहिए कि जो अकरणीय है और मनुष्य जो कर बैठता है, वह सब अज्ञानता-वश है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि ज्ञान से बुद्धि सम होती है, फिर मनुष्य कोई पाप नहीं कर सकता है। पूर्णावस्था में पहुंचे हुए ज्ञानी-पुरुष का व्यवहार नीतिदृष्ट्या सबके लिए आदर्श और प्रमाण-सम माना जाता है।

मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिससे ज्ञान और बुद्धि की अपेक्षा की जा सकती है। इसीलिए यह कहा गया कि पूर्ण-अवस्था में पहुंचे हुए ज्ञानी पुरुष आदर्श और प्रमाण-सम माने जाते हैं। लेकिन, इस अवस्था तक पहुंचने के लिए कर्म का अवलंबन जरूरी है। कोई व्यक्ति कितना ही ज्ञानी-ध्यानी और बुद्धिमान हो, कर्म करना उसके लिए भी आवश्यक माना गया है। गीता के संदर्भ से महात्मा गांधी कहते भी हैं—'बिना कर्म के ज्ञान आता ही नहीं।' जिस तरह यह माना गया कि ज्ञान से बुद्धि सम होती है, उसी तरह यह भी माना जाता है कि ज्ञानवान के लिए भी कर्म करना अनिवार्य है, अन्यथा उसका ज्ञान उसी के लिए बोझ के समान हो सकता है। काका कालेलकर तो शरीर-श्रम नहीं करने को सामाजिक द्रोह मानते हैं। वे कहते हैं—'हमने देखा है कि धनवान, बुद्धिवान लोग शरीर-श्रम नहीं करते। यह सामाजिक द्रोह है।' कालेलकरजी इससे भी अधिक मार्मिक बात कहते हैं—'लेकिन, इससे बढ़कर दूसरा द्रोह करते हैं कि जिनसे शरीर-श्रम का काम लेते हैं, उनको विद्या नहीं देते। क्योंकि विद्या सीखें तो तनख्वाह ज्यादा मांगेंगे। यह एक संकट और ज्यादा कि विद्या मिल गई तो वे ही मजदूर 'शोषित' वर्ग में से निकल कर हमारे, यानी 'शोषक' वर्ग में दाखिल हो जाएंगे।' इसीलिए बुद्धिवानों और धनवानों के लिए भी शरीर-श्रम की आवश्यकता मानी गई है। काका कालेलकर शरीर-श्रम को 'कौशलयुक्त उत्पादक श्रम' की संज्ञा देते हैं।

आचार्य विनोबा भावे कहते हैं—'आज बौद्धिक और शारीरिक परिश्रम—दोनों अलग-अलग माने गए हैं और उनमें उच्च-निम्न का भाव आ गया है। यह सब बाधक है, इसलिए शरीर-श्रम करते हुए मानसिक-बौद्धिक श्रम की प्रतिष्ठा ज्यादा न मानें।' वे स्पष्ट करते हैं—'शरीर-श्रम और बौद्धिक-श्रम, दोनों की जरूरत है और दोनों की प्रतिष्ठा समान है।'

उपरोक्त सभी बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि देहधारी के लिए कर्म करना अपने स्वधर्म का निर्वाह करना है। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कोई धनवान हो या बुद्धिवान, बिना कर्म किए जो फलश्रुति वे पाना चाहते हैं, वह प्राप्त नहीं हो सकती।

कर्म की महत्ता बतलाते हुए यह बात सर्वदा प्रचलित है कि—'तू केवल कर्म कर, फल की चाह न कर और स्वयं को उसका हेतु न मान।' श्रीमद्भगवद्गीता का यह कथन आदर्श वाक्य तो सदैव रहा है, पर क्या व्यवहार में भी ऐसा हो पाया है? स्वयं अर्जुन, जिनको श्रीकृष्ण ने उपदेश देते हुए यह कहा था—क्या यह माना जा सकता है कि युद्ध करते हुए अर्जुन की यह चाह नहीं रही कि वे इस युद्ध को जीतें? उन्होंने जीतने के लिए ही क्या युद्ध नहीं किया? अतः फल की चाह बिना रखे कोई कर्म करना संभव नहीं प्रतीत होता। व्यावहारिक दृष्टिकोण में भी ऐसा होना मुनासिब नहीं लगता। काका कालेलकर भी यही मत रखते हैं। वे कहते हैं—'कर्म करते समय उसका फल क्या आएगा, इसका विचार तो प्रत्येक व्यक्ति करता ही है। न करने से चलेगा ही नहीं।' कालेलकरजी बड़ी ही सरलता से यह बात समझाते हैं—'जो बाग में पौधों को पानी पिलाता है, वह इसीलिए पिलाता है कि वे पौधे उगें और उनमें फूल खिलें।' पर हां, उनके खिलने में स्वयं को उसका हेतु नहीं मानें, जैसा कि गीता में कहा गया है। गीता के इस कथन में बड़ा मर्म है। यदि हम किसी भी किए के फल का हेतु स्वयं को नहीं मानें—ऐसा स्वभाव बन जाए—तो कर्म के प्रति हमारी निरंतरता बनी रह सकती है। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रतिकूल परिणाम आने पर भी हम निराशा से ग्रस्त नहीं होंगे।

इसीलिए संतों, मनीषियों ने आसक्तिरहित कर्म करने की सलाह दी। कहा भी तो गया है 'नेकी कर, कुएं में डाल'—तात्पर्य यह कि जो भी कर्म हम करें उसे अपने से बांध कर न रखें। सामाजिक जीवन में तो ऐसा होना कई मानी में जरूरी भी है। समुदाय के जीवन में सब एक-समान नहीं हो सकते। सबकी क्षमताएं अलग-अलग होंगी, किसी की न्यून तो किसी की अधिक। यदि सामाजिक जीवन में कोई व्यक्ति अपने को ही फल का हेतु समझ कर व्यवहार करने लगे तो वह एक प्रकार के अहंकार से ग्रस्त हो सकता है और सामाजिक समरसता भी तब छिन्न-भिन्न हो सकती है। दुर्भाग्य से आज इसके दर्शन सर्वत्र नजर आ रहे हैं और इसके नतीजे भी साफ तौर पर सामने हैं। घरेलू स्तर से लेकर सामाजिक-सार्वजनिक स्तर पर जो अराजकता दिखाई देती है, जैसी विषमता और आपसी विग्रह नजर आ रहा है—वह इसीका परिणाम है।

हम किसी भी वर्ग को देख लें—सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्र को देखें या कि बौद्धिक वर्ग को—सभी ओर से अपनी-अपनी उपलब्धियां गिनाई-भुनाई जा रही हैं। शासक वर्ग यह कहते नहीं थक रहा कि जो भी विकास हुआ—सब उनकी रीति-नीति का फल है। ठीक इसी तर्ज पर समाज के अन्य वर्ग भी अपनी उपलब्धियां गिनाते दिखाई देते हैं। ठीक इसके विपरीत दूसरे वर्ग की ओर से इनकी नाकामियों को जोर-शोर के साथ सबके सामने रखा जाता है और आम आदमी सदा इस द्वंद्व में रहता है कि वास्तविकता क्या है? यह सब फल की चाह का प्रतिफल न होकर, अपने को फल का निमित्त स्थापित करने के कारण हो रहा है। आसक्तिरहित कर्म का महत्त्व इससे न केवल क्षीण ही होता है, समरसता का सामाजिक रूप भी नष्ट होता है।

यह स्वधर्म नहीं है, इसलिए यह कर्म भी नहीं माना जा सकता है। यह विधर्मिक कर्म है जो न समाज को पुष्ट करता है और न व्यक्ति को। बेशक तात्कालिक स्तर पर इसके प्रतिफल अवश्य प्रकट हो जाते हैं।

इस विधर्म से मुक्त होना और अपने स्वधर्म को ठीक से समझना आज समय का तकाजा है। एक मई का दिन अन्तरराष्ट्रीय श्रम दिवस है। कर्म या श्रम की महत्ता का वास्तविक और दीर्घकालिक स्वरूप स्थापित करने की दिशा में कुछ इस तरह का विचार होना जरूरी है जो कर्म के बल पर समरसता की जड़ों को जमाने में सहायक हो सके।

—शुभू पटवा

विमर्श

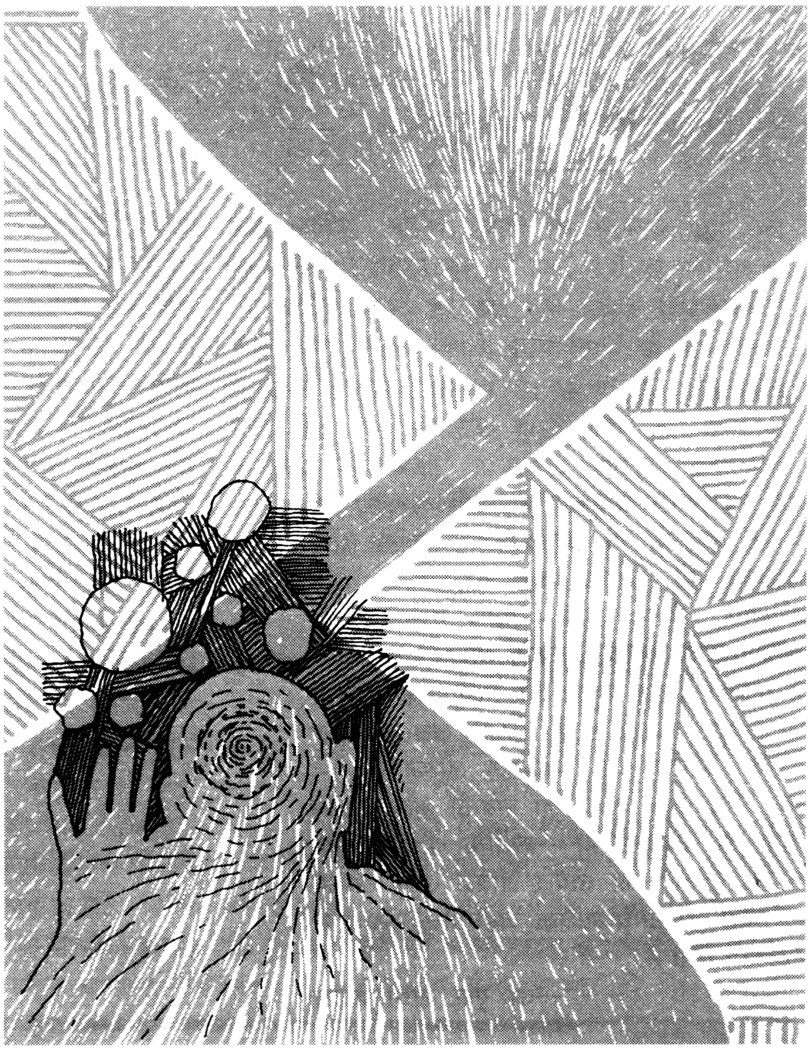

मनुष्य बुद्धि, इच्छा और भावना—इन सबका सम्मिश्रण है, और इस प्रकार अपनी आत्मा के सत्य प्रकाश का साक्षात्कार इन्हीं सबके द्वारा प्राप्त करने की चेष्टा करता है। वह सर्वोपरि यथार्थसत्ता के ज्ञान द्वारा, अथवा किसी पहुंचे हुए महात्मा पुरुष के प्रति प्रेम व भक्ति के द्वारा अथवा अपनी इच्छा को किसी दैवीय प्रयोजन के अधीन करके लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। उसके अपने अन्दर एक प्रकार की प्रेरणा है, जो उसे बाध्य करती है कि वह उक्त भिन्न-भिन्न दिशाओं में इस अल्पज्ञ आत्मा से ऊपर उठ सके। हम चाहे जिस दृष्टिकोण को भी अंगीकार करें, लक्ष्य सबका एक ही है। यह हमारे नाना पक्षों की एकसमान क्षमता ही है जिससे सत्य की प्राप्ति होती है, सौंदर्य का निर्माण होता है और हमारा आचरण निर्दोष होता है।

—डॉ. राधाकृष्णन

आत्मवाद : विविध पहलू

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

क्या यह मान लिया जाए कि स्वतंत्र या प्रत्येक आत्मा की भावना ने मनुष्य में स्वार्थ की भावना पैदा की है? मनुष्य स्वार्थी बना है? इसके दो पहलू हैं—दार्शनिक और व्यावहारिक। दार्शनिक पहलू के आधार पर कहा गया कि आत्मा एक है और व्यवस्था की दृष्टि से नाना आत्माएं हैं। हमारे सामने एक आत्मा नहीं है। एक आत्मा है—यह दार्शनिक प्रकल्पना है। व्यक्ति के सामने असंख्य आत्माएं हैं। हर मनुष्य की अपनी आत्मा है, हर पशु की अपनी आत्मा है। प्रश्न हुआ—यह कैसे? इस प्रश्न को समाहित करने के लिए एक पूरे मायावाद या प्रपंचवाद की कल्पना की गई। कहा गया कि वास्तव में आत्मा एक है, किंतु अनेक आत्माएं जो दिखाई दे रही हैं, वह व्यक्ति की दृष्टि का आभास है, मिथ्या दृष्टिकोण है। वह वास्तविक सचाई नहीं है। जैन दर्शन ने इसे वास्तविक सचाई माना है। प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है और अनंत आत्माएं हैं।

आत्मा अमूर्त है और शरीर मूर्त है। एक प्रश्न दार्शनिक जगत में बहुत चर्चित है—अमूर्त के साथ मूर्त का संबंध कैसे हो सकता है? आत्मा और शरीर यौगिक हैं, एक मिश्रण हैं, दोनों साथ-साथ चल रहे हैं। यह मिश्रण कब बना और कैसे बना? संबंध की यह बात बहुत जटिल है।

आत्मा मूर्त भी, अमूर्त भी

जैन दर्शन ने एक नई स्थापना की—आत्मा शरीर से बंधी हुई है, इसलिए वह सर्वथा अमूर्त नहीं है। आत्मा का अस्तित्व या स्वरूप अमूर्त हो सकता है। उसमें स्वरूपगत अमूर्तता हो सकती है, किंतु वर्तमान में वह सर्वथा अमूर्त नहीं है। शरीर में बंधी हुई आत्मा मूर्त भी है। यदि आकाश की भांति आत्मा सर्वथा अमूर्त होती तो शरीर के साथ उसका कोई संबंध नहीं होता। आकाश में वर्षा होती है, सर्दी होती है, धूप होती है, पर आकाश पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता। न आकाश गीला होता है, न आकाश ठंडा होता है और न आकाश गर्म होता है। उस पर इनका कोई प्रभाव नहीं होता। यदि आत्मा आकाश की भांति सर्वथा अमूर्त होती है तो उस पर शरीर का कोई प्रभाव नहीं होता और वातावरण का भी उस पर कोई प्रभाव नहीं होता, किंतु इनका आत्मा पर प्रभाव होता है। इसलिए यह मानना बहुत संगत है कि आत्मा कथंचित मूर्त है।

मूर्त और अमूर्त का यह योग कब बना? इसका कोई आदि-बिंदु ज्ञात नहीं है। जब से आत्मा है, तब से वह शरीर के साथ है और इसीलिए वह मूर्तिमान बनी हुई है। भविष्य के आधार पर कहा जा सकता है—शरीर-मुक्त होते ही आत्मा अमूर्त बन जाएगी। शरीर-मुक्त होने के बाद आत्मा पर हमारे जगत के वातावरण और पर्यावरण का कोई प्रभाव नहीं होता। मुक्त आत्मा न विकृत होती है, न अशुद्ध होती है। विकार और आवरण उस आत्मा में हैं जो आत्मा कथंचित मूर्त बनी हुई है। अमूर्त आत्मा में कोई विकार या आवरण नहीं होता।

सांख्य दर्शन में आत्मा

सांख्य दर्शन में आत्मा सर्वथा अमूर्त है। इसलिए उसमें न आत्मा का बंध होता है और न आत्मा का मोक्ष होता है। उसके अनुसार आत्मा कर्ता नहीं है और एक दृष्टि से भोक्ता भी नहीं है। वह उपचरित दृष्टि से भोक्ता हो सकती है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा सर्वथा अलिप्त नहीं है, सर्वथा अमूर्त नहीं है, इसलिए वह सर्वथा शुद्ध नहीं है।

शरीर और आत्मा—दोनों की भिन्नता का बिंदु हम नहीं खोज सकते। यदि ऐसी अवस्था होती कि एक दिन आत्मा अमूर्त थी, बाद में शरीर के साथ संयोग हुआ और वह मूर्त बन गई। जब आत्मा अमूर्त थी, तब बिलकुल शुद्ध थी और शरीर का योग होते ही अशुद्ध बन गई। अगर ऐसा होता तो कुछ अलग बात होती। किंतु संसारी आत्मा, अमुक्त आत्मा, कभी भी शरीर से मुक्त नहीं थी, शरीर-शून्य नहीं थी, इसलिए यह कल्पना नहीं की जा सकती। शरीर के साथ उसका संबंध कब हुआ, यह अज्ञात है। शरीर के साथ उसका संबंध कैसे हुआ, यह अज्ञात है। इतना ज्ञात है कि जब से संसार में आत्मा है, वह शरीर के साथ है। इससे आगे कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

आत्मा शरीर-परिमाण है

'आत्मा शरीर के साथ है'—इस आधार पर महावीर ने एक और नई स्थापना की—आत्मा शरीर-परिमाण है। आत्मा के बारे में एक सिद्धांत यह है कि आत्मा व्यापक है। सांख्य दर्शन, नैयायिक दर्शन आदि जितने आत्मवादी दर्शन हैं, वे आत्मा को असीम मानते हैं, व्यापक मानते हैं। उनका मानना है कि आत्मा पूरे संसार में फैली हुई है। जैन दर्शन की यह नई स्थापना है कि आत्मा व्यापक नहीं है। वह शरीर-परिमाण है। जितना शरीर है उतने में फैली हुई है। यदि एक चींटी का शरीर है तो आत्मा उस शरीर-परिमाण वाली है। यदि एक हाथी और सारस का शरीर है तो आत्मा उनके शरीर-परिमाण है। मनुष्य के शरीर में वह मनुष्य के शरीर-परिमाण है।

सब आत्माएं समान हैं

एक ओर जैन दर्शन का मानना है कि सब जीव समान हैं, न कोई छोटा है और न कोई बड़ा है। दूसरी ओर एक हाथी की आत्मा और एक चींटी की आत्मा में स्पष्ट अंतर दिखाई देता है। यह कैसे हो सकता है कि सब आत्मा समान हैं? चींटी की आत्मा छोटी है और हाथी की आत्मा बड़ी है, यह सहज ही मान्य हो जाता है। इस प्रश्न पर जैन दर्शन का अभिमत रहा कि आत्मा-द्रव्य प्रत्येक व्यक्ति में बिलकुल समान है। प्रत्येक आत्मा के असंख्य प्रदेश या अविभक्त परमाणु हैं। किसी भी आत्मा में एक भी प्रदेश या परमाणु न न्यून है और न अधिक है। सबका प्रमाण समान है, किंतु परिमाण में अंतर हो सकता है और परिमाण में जो अंतर होता है वह शरीर के आधार पर होता है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए एक सिद्धांत की स्थापना की गई—संकोच-विस्तारवाद। आत्मा में यह क्षमता है कि वह अपने प्रदेशों का संकोच कर सकती है, विस्तार कर सकती है। आत्मा में संकोच और विस्तार—दोनों होते हैं। संकोच इतना किया जा सकता है कि सूई की नोक टिके उतने स्थान में अनंत आत्माएं हो सकती हैं। यदि विस्तार किया जाए तो एक आत्मा समूचे लोकाकाश में फैल सकती है।

चार चीजें समान मानी जाती हैं—लोकाकाश, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आत्मा। प्रत्येक के असंख्य प्रदेश हैं और सब समान हैं। पूरे लोकाकाश में एक आत्मा फैल सकती है और अनंत आत्माएं एक सूई की नोक में समा सकती हैं। यह है आत्मा की संकोच-विकोच की शक्ति।

संकोच-विस्तार का आधार

केशी स्वामी ने राजा प्रदेशी को बताया—सब जीव समान होते हैं। उन्होंने एक उदाहरण के द्वारा इस तथ्य को समझाया—एक दीप को एक कमरे में रखा, पूरा कमरा प्रकाश से भर गया। उस दीप पर एक बड़ा-सा बर्तन लाकर रख दिया, प्रकाश उसमें सिमट गया, बाहर प्रकाश फैलना बंद हो गया। उसे हटाकर एक बिलकुल छोटा-सा ढक्कन रखा, प्रकाश उसके भीतर सिमट गया। जैसे दीए के प्रकाश को ढक्कन के आधार पर संकुचित और विकसित किया जा सकता है, उसके प्रकाश से पूरे कमरे को प्रकाशित किया जा सकता है, संकुचित और विस्तृत बनाया जा सकता है, वैसे ही आत्मा शरीर के आधार पर अपना संकोच और विस्तार कर लेती है। आत्मा को बड़ा शरीर मिलेगा तो उसमें फैल जाएगी, छोटा मिलेगा तो उसमें सिकुड़ जाएगी। चींटी की आत्मा को मरकर एक बड़े शरीर में जाना है तो वह उतने में फैल जाएगी और हाथी की आत्मा को मरकर एक छोटे-से जीवाणु में पैदा होना है तो उसकी आत्मा उतनी सिकुड़ जाएगी। यह है संकोच और विस्तार।

आत्मा में संकोच-विस्तार की क्षमता है। शेष किसी द्रव्य में यह क्षमता नहीं है। न आकाश में संकोच और

विस्तार होता है और न किसी दूसरे द्रव्य में ऐसा संभव होता है। आज यह माना जाने लगा है कि आकाश सिकुड़ता है, आकाश फैलता है, काल भी सिकुड़ता और फैलता है। किंतु, अब तक संकोच और विस्तार की व्याख्या आत्मा के साथ ही की जाती रही है। संकोच और विस्तार सूक्ष्म शरीर के आधार पर होता है, स्थूल शरीर के आधार पर नहीं। स्थूल शरीर को छोड़कर जीव दूसरे जन्म में जाता है। एक हाथी के जीव को मरकर एक छोटे-से शरीर में पैदा होना है तो वह सीधा पैदा नहीं होता, उसका सूक्ष्म शरीर, कर्मशरीर पहले ही सिकुड़ना शुरू हो जाता है और वह सिकुड़ा हुआ सूक्ष्म शरीर अपने स्थूल शरीर का उतना ही निर्माण करता है जितना उस जीव का होता है। यह संकोच और विस्तार—सूक्ष्म शरीर के आधार पर होता है।

व्यवस्थित स्वीकृति

जो दर्शन आत्मा को व्यापक मानते हैं, उनके सामने भी एक बहुत बड़ा प्रश्न है कि आत्मा व्यापक है, किंतु उसकी सारी प्रवृत्ति शरीर में मिलती है। सुख-दुख का संवेदन वहां होता है जहां शरीर है। आत्मा व्यापक है और पूरे लोक में फैली हुई है, किंतु सारा ज्ञान और संवेदन इस शरीर के माध्यम से होता है। सांख्य दर्शन ने सूक्ष्मलिंग शरीर का संकोच-विस्तार माना है, शरीर के बिना व्यवस्था सम्यक् बैठती नहीं है। असीम और व्यापक आत्मा कुछ भी नहीं कर सकती। सब-कुछ शरीर के माध्यम से होता है। शरीरगत सारी प्रक्रियाओं को स्वीकार करना आवश्यक होता है, इस दृष्टि से यह देह-परिमाण आत्मा की स्वीकृति एक व्यवस्थित स्वीकृति प्रतीत होती है।

प्रश्न कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व का

आत्मा के साथ जुड़ा हुआ एक प्रश्न है—कर्तृत्व और भोक्तृत्व का। आत्मा अपना संकोच और विस्तार करती है। वह क्यों करती है और कैसे करती है? इसका कारण है—उसमें कर्तृत्व की शक्ति है। यदि उसका कर्तृत्व अपना नहीं होता तो वह कोई संकोच-विस्तार नहीं कर पाती। आत्मा कर्ता है और वह यह करती है अपने कर्म-शरीर के कारण। इसका अर्थ है कि आत्मा भोक्ता है। करने की स्वतंत्रता और भोगने की स्वतंत्रता—दोनों आत्मा में हैं। आत्मा का लक्षण बन गया—कर्ता और भोक्ता। इस बारे में दार्शनिक जगत में काफी मतभेद हैं। सांख्य दर्शन आत्मा को कर्ता नहीं मानता। उसके अनुसार सारा कर्तृत्व प्रकृति में है। प्रकृति ही कर्म करती है, प्रकृति ही बंध करती है और प्रकृति ही मुक्त होती है। आत्मा सर्वथा शुद्ध है। उसके न बंध होता है और न मोक्ष।

जैन दर्शन ने आत्मा को सर्वथा शुद्ध नहीं माना। इसलिए आत्मा का बंध भी होता है और आत्मा का मोक्ष भी होता है। आत्मा करती है, बंधती है। अपना कर्तृत्व और अपना भोक्तृत्व—दोनों आत्मा के साथ जुड़े हुए हैं।

आत्मा के कर्तृत्व के साथ कर्मवाद के सिद्धांत का विकास हुआ। आत्मा के कर्तृत्व को जैन दर्शन में दो भागों में विभक्त किया गया—वैभाविक कर्तृत्व और स्वाभाविक कर्तृत्व, वैभाविक भोक्तृत्व और स्वाभाविक भोक्तृत्व।

स्वाभाविक कर्तृत्व

प्रत्येक द्रव्य में निरंतर परिणमन होता रहता है, परिवर्तन होता रहता है। आत्मा उस परिणमन की कर्ता है। आत्मा अपने स्वभाव को करती है, उसका कर्तृत्वभाव निरंतर चलता रहता है। यदि एक क्षण भी उसका कर्तृत्वभाव बंद हो जाए तो आत्मा का अस्तित्व समाप्त हो जाए। उसे निरंतर कुछ-न-कुछ करना होता है। पारिभाषिक शब्दावली में इसे कहा गया—अर्थपर्याय, स्वाभाविक पर्याय, स्वाभाविक परिणमन। परिवर्तन का चक्का स्वभाव से निरंतर घूमता रहता है, कभी बंद नहीं होता। आत्मा में निरंतर परिणमन होता रहता है, इसलिए उसका अस्तित्व टिका रहता है। परिणमन बंद हो जाए तो उसका अस्तित्व भी बंद हो जाए। एक क्षण में आत्मा का अस्तित्व है। यदि वह दूसरे क्षण के योग्य अपने अस्तित्व को न बना सके तो उसका अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। अपने अस्तित्व को टिकाए रखने के लिए प्रतिक्षण करना होता है और यही आत्मा का स्वाभाविक कर्तृत्व है।

वैभाविक कर्तृत्व

एक आत्मा मनुष्य बन गई और एक आत्मा पशु बन गई। एक आत्मा तिर्यंच योनि में चली गई, एक नरक गति में चली गई, एक देव गति में चली गई। यह है वैभाविक कर्तृत्व। व्यक्ति अपने कर्तृत्व से मनुष्य बना है, उसे कोई बनाने वाला नहीं है। अपने कर्तृत्व से ही वह पशु गति में चली जाती है। यह उसका वैभाविक कर्तृत्व है। उसने अपने साथ एक ऐसा जाल रच रखा है जिसके कारण उसका कर्तृत्व चलता है और उसे नाना गतियों में भ्रमण करना पड़ता है। यह गतिवाद, नाना गतियों में परिभ्रमण का चक्र, आत्मा के कर्तृत्व के आधार पर चलता है। उसे दूसरा कोई करने वाला नहीं है।

प्रश्न सुख-दुख का

इस कर्तृत्व के सिद्धांत के आधार पर साधना का एक बहुत बड़ा सूत्र प्रस्तुत होता है कि दुनिया में कोई किसी को सुख-दुख नहीं देता। यह मानना मिथ्या है कि अमुक आदमी ने मुझे सुख दिया और अमुक आदमी ने मुझे दुख दिया। साधक कभी अपने सुख और दुख को दूसरे पर आरोपित नहीं कर सकता। इस तथ्य को समझने में कुछ कठिनाई हो सकती है। प्रत्येक आदमी कहता है कि उसने मुझे सुखी बना दिया और उसने मुझे बड़ा दुखी बना दिया। सुख-दुख का आरोपण दूसरों पर होता है। आदमी अपने-आप को बचा लेता है और दूसरों पर आरोपण कर देता है। यह मिथ्या भ्रम है। इसका टूटना बहुत जरूरी है।

दूसरा आदमी कुछ भी नहीं करता, ऐसी बात नहीं है। वह किसी को सुख देना चाह सकता है और किसी को दुख देना भी चाह सकता है। किंतु, उसके वश में नहीं है कि वह किसी को सुख दे सके और किसी को दुख दे सके। वह केवल सुख के साधनों को जुटा सकता है, दुख के साधनों को जुटा सकता है। वह दुख देने वाले वातावरण और परिस्थिति का निर्माण कर सकता है, सुख देने वाले वातावरण या परिस्थिति का निर्माण कर सकता है। इससे आगे उसकी सीमा समाप्त हो जाती है। वह सुख-दुख दे नहीं सकता, उनका निमित्त बन सकता है।

संदर्भ दुख का

एक साधक ध्यान की मुद्रा में खड़ा था। उसे देखते ही एक मनुष्य के मन में प्रतिशोध की आग भभक उठी। उसने सोचा—यह कैसा आदमी है! मेरी कन्या के साथ इसकी शादी निश्चित की गई और यह उसे छोड़कर संन्यासी बन गया। इस चिंतन से उसके प्रतिशोध की आग अत्यधिक तीव्र बन गई। उसने सोचा कि इसे अभी मार डालूं। पास ही श्मशान में आग जल रही थी। समीपस्थ तालाब में गीली मिट्टी थी। वह मनुष्य मिट्टी ले आया और उसने साधक के सिर पर पाल बांध दी। उस पाल में उसने जलते हुए अंगारे लाकर रख दिए।

हम इस भाषा में सोचेंगे कि उसने साधक को कितना दुखी बना दिया। किंतु, जिसे दुखी बनाया गया, वह क्या सोचता है—यह अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह आत्मलीन बन गया। वह परम ज्ञान एवं परम आनंद भोग रहा है। कैवल्यज्ञान की प्राप्ति, मोहनीय कर्म का विलय और अनंत आनंद उसमें प्रकट हो गया। वह सुख में डूब गया। बाहर से देखने वाला सोचता है कि बेचारा कितना दुखी है और करने वाला समझता है कि मैंने प्रतिशोध ले लिया, बदला ले लिया, दुखी बना दिया। इन में कहीं कोई तालमेल नहीं है।

दूसरा आदमी दुख की सामग्री जुटा सकता है, पर किसी को दुखी बना नहीं सकता। दुखी होना अपने हाथ में है। जैन दर्शन का प्रसिद्ध सूत्र है—अप्पा कर्त्ता विकर्त्ता य दुहाण या सुहाण य'—सुख-दुख की कर्ता और विकर्ता अपनी आत्मा है। यदि दूसरा कर्ता होता तो यह सिद्धांत गलत हो जाता। किंतु, यह सिद्धांत सही है, दूसरा कोई कर्ता नहीं है। कर्ता अपनी ही आत्मा है।

संदर्भ सुख का

सुख के संदर्भ में भी यही तथ्य सत्य की कसौटी पर खरा उतर सकता है। एक व्यक्ति बहुत उदास था, बहुत दुखी था। उसे संवाद मिला था कि तुम्हारा जवान लड़का मर गया है। उसके दुखी एवं उदास होने का कारण नौकर नहीं समझ पाए। उन्होंने सोचा—आज स्वामी उदास कैसे? वे हर सुविधा जुटाना चाहते थे, उदासी मिटाने के लिए। गर्मी का मौसम था, पंखा चला दिया, वातानुकूलन शुरू हो गया। पीने के लिए ठंडा पेय सामने रख दिया। जितनी सुविधाएं जुटाई जा सकती थीं, वे सारी जुटा दीं, किंतु उदासी नहीं मिटी। वह भोजन करता है। सारी बढ़िया सामग्री सामने पड़ी है, पर मन में भयंकर दुख और कष्ट है। सुविधा की सारी सामग्री और सुख की सारी सामग्री होने पर भी वह बड़ा दुखी है, बेचैन है। कोई किसी को सुखी बना नहीं सकता। दूसरा केवल सुख-सुविधा की सामग्री जुटा सकता है।

चिंता है शरीर की

कोई पैदल चलता है तो दूसरा कहता है—देखो! बेचारा शरीर को कितना सता रहा है! एक व्यक्ति गर्मी में बैठा है, पंखा नहीं चलाता है तो देखने वाला कहता है—शरीर को कितना सताया जा रहा है। सर्दी को सहना, गर्मी को सहना और कष्ट को सहना—इनका अर्थ हो गया शरीर को सताना। शरीर को सताया जा रहा है—इसकी चिंता है, किंतु आत्मा को सताया जा रहा है—इसकी कोई चिंता नहीं है।

व्यक्ति का सारा दृष्टिकोण शरीरलक्षी है। साधना का सूत्र है आत्माभिलक्षी होना। आत्मा के कर्तृत्व और आत्मा के भोक्तृत्व से साधना का यह सूत्र फलित हुआ।

आत्मलक्षी दृष्टिकोण में शरीर का संयम महत्त्वपूर्ण होगा। शरीर का संयम होता है तो चंचलता कम होती है। आसन करने से, पद्मासन में बैठने से, शरीर को कष्ट होता है। सर्दी को सहना, गर्मी को सहना, आने वाले सारे तापों को सहना—शरीर को कष्ट देना है। यदि आत्मा का कर्तृत्व और भोक्तृत्व नहीं है तो सहने की कोई जरूरत नहीं है। सुख-दुख को महसूस करने वाली आत्मा है, इसलिए सहना आवश्यक है। आत्मलक्षी होना शरीरलक्षिता को कम करना है। इससे सहन करने की बात स्वतः फलित होती है।

दर्शन की दो धाराएं

दर्शन के क्षेत्र में दो धाराएं हैं—एकात्मवाद और अनेकात्मवाद। कुछ दर्शनों का मत है—आत्मा एक है। जैन दर्शन अनेकात्मवादी है। उसके अनुसार आत्मा अनंत हैं। प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है, कोई आत्मा ईश्वर का अंश नहीं है, ब्रह्म का अंश नहीं है और न कोई माया या प्रपंच है। हर आत्मा का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। संख्या की दृष्टि से अनंत-अनंत आत्माएं हैं और उन सबका अपना-अपना कार्य है। अकेली आत्मा जन्म लेती है; अकेली आत्मा मरती है और अकेली आत्मा अपने सुख-दुख का संवेदन करती है। उसका कोई हिस्सा नहीं बंटाता, उसमें कोई भागीदार नहीं बनता। सब-कुछ अपना होता है। हो सकता है—इससे स्वार्थवाद के पनपने की संभावना की जा सके। प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है और सब-कुछ अपना-अपना है, अपना सुख और अपना दुख, अपना संवेदन और अपना ज्ञान, अपना जन्म और अपनी मृत्यु—यह नितांत स्वार्थवाद है।

अपनी ही चिंता करो, दूसरों की चिंता करने की कोई जरूरत नहीं। अपना किया कर्म अपने को भोगना है, दूसरा कोई बीच में नहीं आता। अच्छा करता है तो अच्छा भोगता है और बुरा करता है तो बुरा भोगता है। न बाप काम आता है, न माता काम आती है, न भाई काम आता है, न और कोई काम आता है। इससे स्वार्थवादी भावना पनपेगी। बस, अपना करो और अपना भोगो, दूसरों से क्या लेना-देना! प्रत्येक व्यक्ति सोचेगा कि मैं दूसरों के लिए क्यों करूं? दूसरों के लिए क्यों कर्म बांधूं? मेरा कर्म मुझे भुगतना है। एक ओर स्वार्थवाद का यह स्वर मिलता है तो दूसरी ओर मिलता है महायान का कि जब तक सब जीवों की मुक्ति नहीं होती, तब तक मैं मोक्ष में जाना नहीं चाहता। एक ओर सबकी मुक्ति का विचार और दूसरी ओर अपनी मुक्ति का विचार। मुझे मुक्त होना है, दूसरों की दूसरे जानें, मुझे कोई चिंता नहीं है। अपनी मुक्ति का विचार और समष्टि की मुक्ति का विचार—दोनों दृष्टिकोणों में बड़ा अंतर है।

सचाई क्या है?

क्या यह मान लिया जाए कि स्वतंत्र या प्रत्येक आत्मा की भावना ने मनुष्य में स्वार्थ की भावना पैदा की है? मनुष्य स्वार्थी बना है? इसके दो पहलू हैं—दार्शनिक और व्यावहारिक। दार्शनिक पहलू के आधार पर कहा गया कि आत्मा एक है और व्यवस्था की दृष्टि से नाना आत्माएं हैं। हमारे सामने एक आत्मा नहीं है। एक आत्मा है—यह दार्शनिक प्रकल्पना है। व्यक्ति के सामने असंख्य आत्माएं हैं। हर मनुष्य की अपनी आत्मा है, हर पशु की अपनी आत्मा है। प्रश्न हुआ—यह कैसे? इस प्रश्न को समाहित करने के लिए एक पूरे मायावाद या प्रपंचवाद की कल्पना की गई। कहा गया कि वास्तव में आत्मा एक है, किंतु अनेक आत्माएं जो दिखाई दे रही हैं, वह व्यक्ति की दृष्टि का आभास है, मिथ्या दृष्टिकोण है। वह वास्तविक सचाई नहीं है। जैन दर्शन ने इसे वास्तविक सचाई माना है। प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है और अनंत आत्माएं हैं। यह अव्यावहारिक नहीं, काल्पनिक नहीं, आभास नहीं, किंतु वास्तविक सचाई है।

आत्मवाद : व्यावहारिक पहलू

व्यावहारिक पहलू से देखें तो एकात्मवाद से एकता फलित होती है। सब आत्माएं एक हैं—इस अद्वैतवाद में एकता की साधना फलित हुई। कहा गया कि सबको एक ही अनुभव करें। प्राणी को ईश्वरीय अंश मानने वाले कहते हैं कि हम सब एक ही पिता के पुत्र हैं। हमारा एक ही परिवार है। यह बात बहुत अच्छी है। पर, व्यवहार में कोई भी व्यक्ति अपने-आप को एक पिता का पुत्र नहीं मानता। सब बंटे हुए हैं; इसीलिए हिंसा, अपराध, दूसरों को सताना और दूसरों के प्रति क्रूर व्यवहार करना चल रहा है। एक ही पिता के पुत्र हों तो यह सब नहीं चलता। सचाई यह है कि एक बाप के चार बेटों में भी विरोध और विग्रह चलता है। यह दर्शन की बात जीवन में अभी तक उतरी नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार एकत्व की बात फलित नहीं होती। 'हम सब एक हैं'—यह फलित नहीं होता। उसके अनुसार फलित होता है—'हम सब समान हैं'। किंतु व्यवहार में यह भी फलित नहीं होता। जैन दर्शन को मानने वाले भी समानता

के आधार पर व्यवहार नहीं करते। सब आत्माएं हैं, किंतु व्यक्ति का व्यवहार सबके प्रति समान नहीं है। उसमें बहुत विषमता है और सारा व्यवहार विषमतापूर्ण चल रहा है।

आत्मवाद : दार्शनिक पहलू

व्यावहारिक पहलू पर एकात्मवाद और अनेकात्मवाद, दोनों में किसी को भी बहुत सफलता मिली है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। किसी व्यक्ति ने भले ही भावना के स्वर में कह दिया कि मैं तब तक मोक्ष जाना नहीं चाहता, जब तक सब मोक्ष नहीं चले जाते। कोई-कोई समानता के आधार पर ऐसा व्यवहार कर सकता है। यह एक आपवादिक स्वर हो सकता है, किंतु इसके आधार पर समाज में न तो एकत्व का प्रयोग हुआ और न समत्व का प्रयोग हुआ। व्यावहारिक दृष्टि से समाज में कोई परिवर्तन नहीं लगता। अनेक आत्मा मानने से या प्रत्येक आत्मा की स्वतंत्र सत्ता मानने से स्वार्थवाद पनपा, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। और एक आत्मा मानने से परमार्थवाद पनपा, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न दार्शनिक पहलू का है। उसके संदर्भ में कहा जा सकता है कि एकात्मवाद की व्याख्या काफी जटिल है, व्यवहार के साथ उसकी संगति बिठाने में काफी जटिलताएं हैं। प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा स्वतंत्र है, अनेकात्मवाद का यह सिद्धांत दार्शनिक प्रक्रिया की दृष्टि से सरल और स्पष्ट अनुभव देने वाला है।

मैं कौन हूं?

आत्मा के बारे में इन सारे सिद्धांतों को जानने के बाद जो निष्कर्ष आएगा, जो एक प्रश्न उभरेगा, वह होगा—मैं कौन हूं? जब तक आत्मा के इतने पहलुओं को नहीं जान लिया जाता, तब तक 'मैं कौन हूं?'—यह बात समझ में नहीं आती और इसका उत्तर भी नहीं दिया जा सकता। साधना का महत्त्वपूर्ण प्रश्न है—'मैं कौन हूं?' साधना के इस प्रश्न को समाहित करने के लिए दर्शन के इतने-सारे प्रश्नों को अपनाना जरूरी है और इन प्रश्नों को समझने के बाद ही व्यक्ति अपने-आप को यह उत्तर दे सकता है—'मैं कौन हूं?' ❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है।
वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

पुनर्जन्म : एक विवेचन

प्रो. कल्याणमल लोढ़ा

विचारों और भावनाओं का मुख्य केंद्र शरीर है। मृत्यु के अनंतर यह शरीर चंद्रमा तक बना रहता है और इस पर जलवायु का प्रभाव पड़ता है। आज विज्ञान भी आत्मा की खोजबीन कर रहा है। अमेरिका के चिकित्सक मैक्डूगल आत्मा पर शोध कर रहे हैं। एक अतिसंवेदनशील भारसूचक यंत्र को उन्होंने मरणासन्न व्यक्ति पर लगाया—यह यंत्र एक ग्राम के सहस्रवें भाग तक का वजन ग्रहण कर सकता है। पता चला कि रोगी की सांस निकलते ही शरीर का वजन एक औंस कम हो गया। हर बार यही निष्कर्ष निकला। डॉ. मैक्डूगल कहते हैं कि शरीर में निश्चित रूप से कोई सूक्ष्म तत्त्व है, जिसे जीवन का आधार कहा जा सकता है।

तीन अंकों में समाप्य आलेख की पहली कड़ी

जिस प्रकार महाकाल संवत्सर के माध्यम से अपनी निरंतरता और अनन्यता प्रकाशित करता है और सारी प्रक्रिया परिणति, परिवर्तन और विवर्तन का कारण बनती है, उसी प्रकार जन्म-मरण के माध्यम से हम अपने कर्म, संस्कार और पुनर्जन्म का प्रमाण पाते हैं। 'मृत्यु' शब्द का अर्थ है 'परिवर्तन हो जाना—कारण में विलीन या लय हो जाना'। इंद्रियों का आत्मा से संयोग जन्म का हेतु है और मृत्यु उसके वियोग का। जन्म अर्थात् 'सृष्टि' और मृत्यु अर्थात् 'विलय'—प्रकारांतर से एक ही वस्तु है। जन्म अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था है और मृत्यु व्यक्तावस्था से अव्यक्तावस्था।[1] मृत्यु हर समय शरीर को हरण करने की प्रतीक्षा में रहती है। कर्मानुसार प्राणी देश-काल में मरता है—देश अथवा विदेश में। मृत्यु न तो बालक, युवा व वृद्ध का भेद करती है और न यह देखती है कि वह सद्गुण संपन्न है अथवा दुर्गुणयुक्त। यही मृत्युलोक है। शिवसूत्र 48 में यम के भय से मुक्त होने की प्रार्थना है। अग्नि से प्रार्थना है कि अश्विनीकुमार धर्म-पालन से मृत्यु का निराकरण करें। पुनः आगे कहा है कि मंत्रोच्चारण से मृत्यु मेरे पथ का अवरोध न करे। पुनः **उभयोर्लोकयो ऋदवाति मृत्युं तराम्यहम्।** इहलोक में समृद्धि प्राप्त कर मैं परलोक में मृत्यु से मुक्ति पाऊं। मृत्यु से पुनः प्रार्थना है कि मेरा जीवन नष्ट न करो—मेरी शक्ति का ह्रास न करो—हे मृत्यु! तुम मनुष्य के कर्मों की साक्षी हो। आगे यह कहा गया है कि तुमने सहस्र-सहस्र व्यक्तियों को आहत कर समाप्त किया है, पर हमने अपने शुभ कर्मों से मृत्यु पर विजय पा ली है। अथर्ववेद के मृत्यु संतरण सूक्त (4-35) में ओदन के द्वारा मृत्यु का अतिक्रमण है—**तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्।** योगवासिष्ठ के निर्वाण प्रकरण में भुशुंड कहता है कि वासनारूपी तंतुस्थिति जिसके हृदय में नहीं रहती, जो वासना और पाप से रहित है उसको मृत्यु नहीं मारती। इसी प्रकार जो मानसिक चिंताओं से और आशाओं से रहित है, जिसे लोभरूपी सर्प नहीं डसता उसे मृत्यु नहीं मारती। जिस महापुरुष का चित्त

परमात्मा में स्थित है, उसे भी मृत्यु नहीं मारती। याज्ञवल्क्य ने वृहदारण्यक (3.1.3) में बताया है कि यजमान वाणी को अग्नि का रूप देकर मृत्यु को जीत लेता है। अपने पिंड में ब्रह्मांड से व्यष्टि का समष्टि से मिला देना और इनका सामंजस्य ही मृत्यु को जीतना है। वाणी का अग्नि रूप हो जाना ही मृत्यु से छूटना है और प्राण का वायु रूप हो जाना ही मुक्ति है। वासना का बंधन ही जीवात्मा का बंधन है। वासनाओं से मोहित होकर पशु-पक्षी योनियों को प्राप्त होता है।

आधुनिक जीवशास्त्रियों ने मृत्यु के चार चरण बताए हैं। ये हैं—(1) मस्तिष्क मरणकाल में शरीर के अवयवों को संदेश नहीं देता। (2) श्वास व हृदय की गति बंद हो जाती है। (3) नाड़ी समूह, श्वास आदि की क्रियाएं रुक जाती हैं। (4) जीवन की समस्त संभावनाएं समाप्त हो जाती हैं (प्रो. नेगोस्मी के आधार पर)। आचार्य श्रीराम शर्मा का मत है कि मृत्यु के समय बाहर से मरणासन्न व्यक्ति अचेत हो जाता है, पर भीतर वह सचेत रहता है और मृत्यु के समय सभी पीड़ाएं समाप्त हो जाती हैं और मनुष्य अनंत शून्य में विलीन हो जाता है। मध्यकाल में सूक्ष्म शरीर स्वच्छंद विचरण करता है। जन्म और मृत्यु केवल स्थिति का परिवर्तन हैं (मरणोत्तर जीवन तथ्य एवं सत्य)।

कर्मफल ही इसका मूल कारण है। डॉ. पांडुरंग वामन काणे के अनुसार ऋग्वेद में कर्म का अर्थ 'पराक्रम' अथवा 'वीर कार्य' है। कहीं-कहीं पर उसका तात्पर्य धार्मिक कृत्य भी है। ऋचाओं में प्रार्थना की गई है कि वह मृतात्माओं को सत्पुरुषों के लोक में ले जाए।[2] ऋग्वेद कहता है कि इंद्र के पराक्रम का निरीक्षण करो (1.131.1)। ऋचा कहती है **ताभिव हेन सुकृतां उलोकम्—सुकृतां लोकम्।** अथर्ववेद—जब राजा यम के नियमपालक सभासद मनुष्य-कृत पाप-पुण्य का विभाजन करते हैं तब रक्षक भय से मुक्त कर तुष्टि प्रदान करता है। इसी के समानांतर पांचवें मंत्र में कहा है (3.29.9.)। पांचवें मंत्र में पंचतत्त्व व प्राणों को विकृतियों से बचाने को कहा गया है। अवि का दान करने वाला सूर्य-चंद्र का अंश अक्षय जीवन प्राप्त करता है। मैकडोनल आदि विद्वानों की यह भ्रांत धारणा है कि पुनर्जन्म की कल्पना आर्यों ने भारत के मूल निवासियों से ली। डॉ. रामचंद्र रानाडे लिखते हैं कि किसी भी जाति में कुछ परिस्थितियों के अंतर्गत पुनर्जन्म की कल्पना का मूल उसके ही जाति-विज्ञानमूलक मनोवैज्ञानिक विकास में हैं।[3] ऋग्वेद के प्रथम मंडल के 164वें मंत्र में रोथ और बोहरलिंक ने पुनर्जन्म का प्रचुर प्रमाण पाया है।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः।
(1.164.31)

इसके अतिरिक्त अनेक मंत्र पुनर्जन्म के सिद्धांत का समर्थन करते हैं। **आर्युर्वसान उपवेतु शेषां संगच्छतां तन्वा जातवेदः** (10.6.5)। मरणोपरांत पंचतत्त्व अपने में मिल जाते हैं, तब जीव अन्य देह धारण करता है। ऋग्वेद में पूर्वजन्म के निकृष्ट कर्मों के भोग से किस प्रकार वृक्ष, लता आदि में प्रविष्ट होता है—इसका स्पष्ट उल्लेख है—**'भावे भुजे मान्य जातमेक', 'भावे एनो अन्य कृतं भुजेम्'।**

लब्ध्वानिमित्तमव्यक्तं व्यक्ताव्यक्तंभवत्युत।
यथा योनि यथा बीजं स्वभावेन वलीयसा।।

आदि मंत्र बताते हैं कि एक जीवन अन्य कर्मों को भोगता है। अन्यत्र भी कहा गया है।

इसी वेद में **पुनर्नः पितरो मनोदादातु दैव्यो जनः। जीव व्रातं सचेमहि** (1.55)। यह स्पष्ट है कि जीवात्मा मानव, पशु, वृक्ष, जल, वनस्पति, औषधि भी बनता है—**द्वे सृती अश्रृण्वं पितृणामहं दैवानामुत मर्त्यानाम्। ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च।** (ऋग्वेद 10.88.15)। ऋग्वेद (1.164.3 एवं 38) में स्पष्ट ऋचाएं हैं। श्वसन प्रक्रिया द्वारा अस्तित्व में रहने वाला जीव जब शरीर से चला जाता है तब यह शरीर निश्चल पड़ा रहता है, पर इस मरणशील शरीर में रहने वाली आत्मा अपने धारण करने की शक्तियों से निर्बाध विचरण करती है और यह आत्मा विभिन्न योनियों में चली जाती है और उन शरीरों को धारण करती एवं पृथक होती रहती है।

इस प्रकार अथर्ववेद में देवयान-पितृयान का उल्लेख मिलता है। भावार्थ है कि मनुष्यों के गमन के दो मार्ग सुने हैं—एक पितृयान और दूसरा देवों का देवयान। यह जीव-जगत इन दोनों मार्गों से ही चलता है। यजुः (4-15) में आत्मशक्ति की महानता और अधोगति से बचने की प्रार्थना है और पापकर्मों से रक्षा की। अथर्ववेद (12-1-5) में पुनर्जन्म का सिद्धांत स्पष्ट है—

परिविश्वा भुवनान्या मृतस्य य तन्तुं विततं दृशेकम्।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त।।

अर्थात् अमृत सेवन करने वाले देवगण और देव पुरुष को विचरण करते उस परम सत्य को अनेक बार देखा है।

'हे जातवेदस, आप लोग प्रजापति के योग्य मार्गों से प्रजा को उत्पन्न करने वाली परमेश्वरी जगदंबा शक्ति को

प्राप्त करो'—कामना से प्रेरित पुरुष आत्म-स्तुतियों से उस परमेश्वरी की पूजा करता है। पुण्याचरण से लोक में स्वर्ग (सुखमय लोक में) जाते हैं और परम योगी आदित्य के समान तेजस्वी पुरुष का योग करते हैं। डॉ. कारिंदर ने अपने ग्रंथ 'गीता तत्त्व मंजरी' में वेदों में प्राप्त पुनर्जन्म के प्रचुर प्रमाण दिए हैं। 'दुर्गा सप्तशती' में भगवती देवों से अपने विभिन्न अवतारों का वर्णन करती है।

योगवासिष्ठ (3.40.32.33) में पुनर्जन्म के लिए कहा गया है कि महाप्रलय में जिस प्रकार सब सुषुप्त लगता है, उसी प्रकार मृत्यु के पश्चात् जीव मूर्च्छा की स्थिति में चला जाता है और स्वप्न एवं संकल्प की तरह एक विलक्षण पारलौकिक सृष्टि रचता है और नवीन जीवन धारण करता है। मोक्ष प्राप्त न होने तक आवागमन का चक्कर काटता है।

आधयो व्याधयश्चैव क्रम दुःखस्यधारणम्।
तन्निवृत्ति सुखं विद्यातत्क्षयो मोक्ष उच्यते।।

ब्राह्मण ग्रंथों में तो कर्म विपाक का प्रचुर वर्णन उपलब्ध है। शतपथ ब्राह्मण में भृगु का उपाख्यान इसका प्रमाण है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में अनेक बार 'पुनर्मृत्यु' को जीत लेने का वर्णन है। पुनः शतपथ ब्राह्मण (10.4.3.10) कहता है कि मनुष्य की इच्छा और उसी के अनुरूप उसके कार्य पर निर्भर है कि मरणोपरांत वह कौन-सा लोक प्राप्त करे। स्वामी गंगेश्वरानंद ने ऋग्वेद की (1.110.4, 4.36.4, 7.35.15) ऋचाओं के आधार पर यह प्रमाण दिया है कि शास्त्रोक्त कर्म करो और देव बनो। इस संदर्भ में ऋभुओं की कथा स्पष्ट है (वेदोपदेश चंद्रिका ग्रंथ)।[4] भारतीय मनीषा ने कर्म को ही जन्म-जन्मांतर (पुनर्जन्म) का हेतु गिना है—

लब्ध्वा निमित्तमव्यक्तं व्यक्ताव्यक्तं भवत्युत।
यथा योनि यथा बीजं स्वभावेन वलीयसा।।

उपनिषदों में तो पुनर्जन्म की मान्यता के अनेकानेक प्रमाण व प्रसंग हैं। कठोपनिषद् में नचिकेता से यमराज परलोक व पूर्वजों की महायात्रा का उल्लेख करते हैं—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।। (2/2.7)

जिसका जैसा कर्म व ज्ञान होता है, उसके अनुसार जीव योनि में जाकर शरीर धारण करता है। वृहदारण्यक श्रुति में पुनर्जन्म का उत्कृष्ट विवेचन है। इसमें बताया गया है कि वर्तमान शरीर को छोड़ने के पूर्व ही आत्मा भावी शरीर निर्धारित करता है। यह उपनिषद् आत्मा के प्रत्येक जन्मांतर में कर्म को ही उत्तरदाई समझता है।

इस श्रुति के आर्त भाग के प्रश्नों के अंत में यही निष्कर्ष निकला और कर्म की ही प्रशंसा की एवं इसके आधार पर ही पाप-पुण्य की समीक्षा भी की। कर्म ही नियामक और निर्धारक तत्त्व है। इसी श्रुति (3.9) में आत्मा को जन्म-मरण से पृथक गिना है। आगे (4.4 में) पुनर्जन्म का वर्णन किया है और बताया है कि आत्मा शरीर के किसी प्रदेश से निष्क्रमण करता है और प्राण पीछे-पीछे निकलते हैं, तत्पश्चात् इंद्रियां। जीवन मरणकाल में सविज्ञात हो जाता है, अर्थात् संपूर्ण जीवन सामने आता है। विद्या, कर्म और पूर्व प्रज्ञा भी साथ-साथ जाते हैं। यही तृणजतायुका सुंडी का निदर्शन किया है। गोविंदचंद्र पांडे (पुनर्जन्म की भारतीय अवधारणा) के अनुसार कर्मफल नियम ही व्यष्टि और समष्टि के इतिहास का नियामक है और इसके पीछे एक सहज भक्ति अथवा ईश्वरेखा है—जन्म-मृत्यु, सृष्टि-प्रलय का चक्र अनादि है।

मृत्यु के अनंतर आत्मा का वायुलोक, सूर्यलोक व चंद्रलोक से आरोहण करने का वर्णन है। इसी श्रुति (6.2) में आरुणि के पुत्र श्वेतकेतु की कथा है, जिसमें एक क्षत्रिय राजकुमार श्वेतकेतु से पांच प्रश्न करता है—ये पांच प्रश्न स्पष्टतः देवयान-पितृयान मार्गों के साथ-साथ पुनर्जन्म के प्रमाण हैं। इसी में पंचाग्नि विद्या का वर्णन है—पांच अग्नियां हैं, पांच आहुतियां हैं। ब्रह्म के पास जाने वाले पृथिवी पर लौटकर नहीं आते, पर पितृयान से जाने वाले लौटते हैं। कीड़ों, कीटों, पक्षियों का कोई मार्ग नहीं होता। छांदोग्य उपनिषद् में भी देवयान-पितृयान, उत्तरायण, दक्षिणायन मार्गों का वर्णन है। इसके साथ-साथ आत्मा की अन्य गति 'जायस्व-म्रियस्व' का भी उल्लेख है। कीट-पतंग बार-बार जन्म लेते हैं—उसी प्रकार कदाचारी, मद्यपी, हत्यारे बार-बार पतित होते हैं। आत्मा के शरीरांत पर पुनः-पुनः अन्य शरीर धारण करता है। यही पुनर्जन्म है। कौषतकि ब्राह्मणोपनिषद् (1) में महर्षि चित्र ने जीव की गति और लोकोत्तर जीवन की व्याख्या की है। जो परमेश्वर की उपासना करता है, वह देवयान से अग्निलोक, वायुलोक, सूर्यलोक, वरुणलोक और अंत में इंद्रलोक में जाता है। वहां से प्रजापति और फिर ब्रह्मलोक से 'सार' नामक जलाशय में अवगाहन कर काम, क्रोध, लोभ के कषाय नष्ट करता है। यहीं 'येष्टिह' देवता निवास करते हैं। फिर विरजा नदी इला की पृथिवी और एक दिव्य नगर है। कहा गया है कि जीवात्मा की तीन गतियां होती हैं—मोक्ष,

स्वर्ग और आवागमन (5.10.8)। इसी सत्य का उद्घाटन वृहदारण्यक (4.4.3) ने सुंडी-तृण-जलायुका से किया है।

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं। इसी को अन्यत्र भी बताया है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध में कहा है— **यथा तृणजलुकेवं देही कर्मगतिं गतः। गत्वाऽन्यमाक्रम्यात्मानमुपसं हरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविधा**। स्वर्णकार की भांति स्वर्ण की एक मात्रा से नवतर-कल्याणतर रूप बना लेता है, उसी प्रकार यह आत्मा शरीर को छोड़कर दूसरा रूप धारण करती है। श्वेताश्वतरोपनिषद् कहता है—**एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः**। जीवात्मा अवश्य पुनर्जन्म धारण करता है।[5] प्रश्नोपनिषद्, मुंडक व ऐतरेय, कठ में भी जन्म-जन्मांतर के रहस्यों का वर्णन है। कठोपनिषद् (1.6) में यमाचार्य कहते हैं—

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथापरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः।।

मनुष्य अन्न की भांति पैदा होता है, नष्ट होता है और पुनः उत्पन्न होता है। मुंडक (1-11) में ऋषि कहते हैं तप और श्रद्धा से सभी मंत्र से शुद्ध होकर सूर्य द्वारा वहां जाते हैं, जहां अमृत, अध्यात्म पुरुष हैं—अर्थात् ब्रह्मलोक में, जहां से आवागमन नहीं होता। ऐतरेय (2-4) में पुनर्जन्म का वर्णन है और (3-4 में भी) मर्त्यलोक से उत्क्रमण कर स्वर्गलोक का वर्णन है। पुनः कठवल्ली (2-6) में यमाचार्य कहते हैं—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे।।

अविवेकी के मन में परलोक की कोई कल्पना नहीं होती, क्योंकि वह आत्मस्वरूप से अनभिज्ञ है और संपत्ति-मद से इस जगत को ही सब-कुछ समझ लेता है—ऐसा मनुष्य बार-बार जन्म-मृत्यु के चक्कर में फंसता रहता है। यमाचार्य आगे (2-18-19) कहते हैं—ज्ञानी की आत्मा न कभी उत्पन्न होती है, न मरती है। आत्मा अज, शाश्वत, नित्य व पुराण है। शरीर नष्ट होता है, आत्मा नहीं—आत्मा किसी को भी नहीं मारती। पुनः (4-3-4 में) आत्मा की व्याख्या करके कहते हैं कि आत्मा से ही रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श आदि विषयों का ज्ञान होता है। जो सर्वव्यापक सूक्ष्म आत्मा को जानता है, वह ज्ञानी शोक से अलिप्त रहता है। प्रश्नोपनिषद् में देवयान-पितृयान के साथ मृत्यु के समय पर प्राण का वर्णन है (ऐसा वर्णन अन्य उपनिषदों में भी द्रष्टव्य है)। उदान प्राण की सहायता से आत्मा पुण्यलोक, पापलोक व मनुष्यलोक में पुनः जन्म लेती है।

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुप शान्ततेजाः।
पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः।। (3.9)

उदान प्राण शरीर के तेज का प्रतिनिधि है—जो प्राण में उदान है, वही बाह्य जगत में तेज है।

प्राण तत्त्व में पंचप्राण का विवेचन किया गया है। यहां उदान प्राण के संबंध में ही विशेष विचार अपेक्षित है। इसी प्राण से व्यष्टि प्राण और समष्टि प्राण का संबंध है। योगी संयम के द्वारा उदान को जीत लेता है, तब शरीर अत्यंत हलका हो जाता है और मरणावस्था में उसकी गति उत्तरायण से होती है। प्रश्नोपनिषद् (3.7) कहता है कि **अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति। पापेन पापमुमाभ्यामेव मनुष्यलोकम्**। उदान ऊपर जाने वाले लिंग शरीर को पुण्य से पुण्यलोक में ले जाता है और पाप से पापलोक में। सुषुम्नागत उदान में चित्त की स्थिरता से अर्च्चिरादि मार्गों में स्वेच्छा से उत्क्रांति होती है। 'वेदांत सूत्र' (प्राण गतैश्च 3.1.3) में भी उदान प्राण से ही दूसरे शरीर में जाना कहा है।

उदान अर्थात् उद्+आन—ऊपर अथवा नीचे की ओर जीवन रहता है—पुण्य ऊपर की प्रक्रिया है और पाप अधोगति की। छांदोग्य कहता है (8.6.4)—जब प्राण शरीर से निकलता है तो 'हृदय की रश्मिरूपी' नाड़ियों से किसी एक में से निकल जाता है—आंख, कान, नाक सभी में ये नाड़ियां गई हैं। जिस विषय में व्यक्ति जीवन-भर मग्न रहता है, उसी विषय की नाड़ी से प्राण निकलता है। वृहदारण्यक (5.10) में मरणोपरांत जीव प्रथमतः वायुलोक, फिर आदित्यलोक, तदनंतर चंद्रलोक और अंत में ब्रह्मलोक में जाता है, पर यह सब सत्कर्म आदि पर निर्भर है। मृत्यु के समय जिस प्रकार की चित्तवृत्ति होती है, उसी से वह प्राण के पास पहुंचती है। उदान मार्ग ही 'कोरोटिड आर्टरी' है। कौषतकि ब्राह्मण उपनिषद् में भी देवयान-पितृयान मार्गों का उल्लेख है, किंतु कीट-कीड़ों का नहीं। वृहदारण्यक व छांदोग्य में चंद्रलोक को ऐसा स्थल माना है, जहां से दोनों मार्ग पृथक होते हैं। कौषतकि श्रुति में पुनर्जन्म लेने वाले जीवों को चंद्रलोक तक जाने का निर्देश है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी दो मार्गों का उल्लेख है (8.23.27)। इन्हें शुक्ल या कृष्ण गति कहा गया है। प्रथम प्रकाश—उत्तरायण मार्ग है और दूसरा धूम्र-रात्रि

अथवा कृष्ण मार्गः, योगी इस मार्ग से पुनः लौटकर आता है।[6] श्रीकृष्ण कहते हैं—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवेति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।। (गीता 8.6)

श्रीकृष्ण दो मार्गों का वर्णन कर कहते हैं—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।। (6-25)

पुनः श्रीकृष्ण अर्जुन को इन दोनों मार्गों को जानने को कहते हैं। महाभारत के शांति पर्व में भी (26.8.10) उत्तरायण व दक्षिणायन मार्गों का उल्लेख है। सूक्ष्म शरीर की गतिविधियां नए जन्म में भी मुख्य हैं। यहूदी भाषा में आत्मा को 'नेफेस' कहते हैं, जिसका अर्थ है स्थूल व सूक्ष्म शरीर। न्यू टेस्टमेंट में 'शुको' शब्द का अर्थ है—प्रेतात्मा और मुक्त आत्मा।

विचारों और भावनाओं का मुख्य केंद्र शरीर है। मृत्यु के अनंतर यह शरीर चंद्रमा तक बना रहता है और इस पर जलवायु का प्रभाव पड़ता है। आज विज्ञान भी आत्मा की खोजबीन कर रहा है। अमेरिका के चिकित्सक मैक्डूगल आत्मा पर शोध कर रहे हैं। एक अतिसंवेदनशील भारसूचक यंत्र को उन्होंने मरणासन्न व्यक्ति पर लगाया—यह यंत्र एक ग्राम के सहस्रवें भाग तक का वजन ग्रहण कर सकता है। पता चला कि रोगी की सांस निकलते ही शरीर का वजन एक औंस कम हो गया। हर बार यही निष्कर्ष निकला। डॉ. मैक्डूगल कहते हैं कि शरीर में निश्चित रूप से कोई सूक्ष्म तत्त्व है, जिसे जीवन का आधार कहा जा सकता है। एक अन्य वैज्ञानिक डॉ. गेट्स ने भी ऐसे प्रयोग किए। डॉ. गेट्स ने बताया कि आंखों से इन्फ्रारेड स्तर की किरणें निकलती हैं। यह 'विलसा क्लाउड' चैंबर के प्रयोग से किया गया है। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि कोई अन्य सत्ता प्राणी में अवश्य विद्यमान रहती है और इसे ही आत्मा का प्रतीक गिना है। प्रश्न है कि क्या यह उदान प्राण ही नहीं है, जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है?

ज्योतिशास्त्र के विद्वान आज पृथ्वी से लेकर ब्रह्मलोकपर्यंत ब्रह्मपथ स्वीकार करते हैं, यह पूर्णतः प्रकाशमय है। इसके पश्चात् चंद्रलोक और तदनंतर विद्युत-लोक और फिर ब्रह्मलोक है (डॉ. सत्यकाम विद्यालंकार-एकादशोपनिषद, पृ. 508)। भारतीय मनीषा ने मरणोपरांत जीव की यात्रा का सांगोपांग विवेचन किया है। कहा जाता है कि शुक्ल पक्ष में उत्तरायण में, घर में दीपक जलते समय और अंतिम समय पर स्मृति के बने रहने पर प्राणी को उत्तम गति प्राप्त होती है। जीवन्मुक्त और ज्ञानी की मृत्यु कहीं भी हो, वह धन्य होता है। विवेक के कारण उसे जन्म-मरण का ध्यान ही नहीं रहता। हृदय आदि स्थानों में निरंतर विचरण करने वाला प्राण, वायु की गति को जानकर उसका अनुसरण कर प्रसन्नचित्त पुरुष जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है और पुनः संसार में नहीं आता। आकाश में स्थित वायु के भीतर मृत प्राणी के प्राण हैं और इसके भीतर मन है और मन के भीतर जगत—जैसे तिल में तेल। प्राण वायु में स्थित आकाशात्मक जगत में यत्र-तत्र ले जाते हैं। जीवात्मा अपनी भावना से समय-समय पर स्वयं ही अनेक रूप धारण करता है। भावना के अनुसार जीव के भी शरीर आदि स्थावर, जंगम आदि अनेक रूप होते हैं, क्योंकि अज्ञानता से वह यह समझता है कि देह ही सब-कुछ है, चेतन-आत्मा को नहीं पहचानता। इसी अज्ञान से चिरकाल तक स्वर्ग-नरक के आवागमनों द्वारा घूमता रहता है। श्रीगीता (16-19-20) में कहा है कि निष्ठुर नराधम पापी का असुर-पशु आदि योनियों में निक्षेप होता है और हर जन्म में आसुरी योनि प्राप्त कर अधिक अधोगति या कृमि-कीट आदि की घृणित योनि में जाते हैं।

श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में जन्म-जन्मांतर का प्रचुर प्रयोग किया है। कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।। (2.27)
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।। (2.13)
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।। (2.22)
बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप।। (4.5)
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।। (7.19)
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।। (8.16)
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।।
(9.21)

इनके अतिरिक्त भी हैं। श्रीकृष्ण ने आत्मा की अजर-अमरता निदर्शित करते हुए पुनर्जन्म का वर्णन कर्मों के विवेचन के साथ किया है। वाल्मीकि ने भी पुनर्जन्म का निर्देश कौशल्या के द्वारा यह कह कर कराया है कि पूर्व-जन्म में दुग्धपान के समय माता के स्तनों को काटा होगा, इससे उन्हें इस जन्म में पुत्र-वियोग सहना पड़ा। श्रीरामचंद्र ने भी इसे पूर्वजन्म का ही कृत्य कहा था। रामायण में सर्वत्र पुनर्जन्म का सिद्धांत निरूपित है। योगवासिष्ठ में पुनर्जन्म का बार-बार उल्लेख हुआ है। यथा जीवन-मुक्त के संबंध में कहा गया है **भोगा इह न रोचन्ते जीवन्मुक्तः स उच्यते** (3.53)।

आचार्य चरक ने भी इसे आयुर्वेद की दृष्टि से स्वीकार किया है। श्री आद्य शंकराचार्य का कथन है **पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननि जठरेशयनम्।**[7] आचार्य शंकर ने 'शारीरिक भाष्य' में यह प्रमाणित किया है कि शरीरांतर-ग्रहण देह-त्याग से पूर्व नहीं होता है—वह तो उपनिषदों के पंचाग्नि-क्रम से होता है, अर्थात् स्वर्ग, पर्जण्य, पृथ्वी, पुरुष और स्त्री—ये ही पांच अग्नियां हैं। स्वर्ग अर्थात् चंद्रलोकः (चन्द्रमा मनसो जातः) वह कारण शरीर से ऊर्ध्वलोक में जाता है। वे कहते हैं **कर्मोपस्थापित प्रतिपत्तन्य देह विषय भावनादीर्घा भाव मात्र जलुकया उपमीयते** (3.1), अर्थात् मृत्युकाल में अगली योनि प्राप्त करने के लिए प्रारब्ध कर्मप्रधान होता है, वह आगे होने वाले शरीर की भावना स्वतः अभिव्यक्त कर देता है। इसके लिए आचार्य शंकर जोंक की उपमा देते हैं। स्वामी आत्मानंद कहते हैं—'अंतिम क्षण जब निकट आता है तब वह भीतर से पूरे होश में रहता है, बाहर से भले ही अचेत लगे। तब संस्कारों की समष्टि उसके मानस पटल पर अंकित हो जाती है और अगले शरीर की भावना उत्पन्न करते हैं।' (भारतीय संस्कृति, कर्म और पुनर्जन्म, पृ. 186)।

महाभारत में तो स्पष्टतः पुनर्जन्म का उल्लेख मिलता है। महर्षि व्यास कहते हैं—

यथा हि पुरुषः शालां पुनः संप्रविशेन्नवाम्।
एवं जीवः शरीरापणि तानि तानि प्रपद्यते।।
देहान् पुराणान् उत्सृज्य नवान् संप्रतिपद्यते।
एवं मृत्युमुखं प्राहुर्जना चेत्तत्त्वदर्शिनः।।

(शांति पर्व-12.57.58)

इसके अतिरिक्त भी अनेक स्थल हैं, जिनमें पुनर्जन्म का वर्णन किया गया है। इसी पर्व (75.15.16) में कहा गया है **कृते घर्म्ये भवेत् कीर्तिरिरिह प्रेत्य च वै सुखम्।**

मृत्यु का क्षण कौन जानता है? धर्माचरण से इस लोक व परलोक में सुख मिलता है। पुनः सत्य के ही कारण मनुष्य स्वर्गलोक में जाता है। अनुशासन पर्व में (111.16) कहा है **धर्म्य एको मनुष्याणां सहायः पारलौकिकः**। स्वर्ग में वे ही जाते हैं जो **शत्रुं मित्रंच यो नित्यं तुल्येन मनसा गिरा** (आश्वमेधिक 51.52)। महात्मा ध्यान योग से निर्मल होकर सबसे श्रेष्ठ स्वर्गलोक जाते हैं (शांतिपर्व 229.15)। महाभारत के अनुशासन पर्व (1.74.78.79) में गौतमी के पुत्र की सर्पदंश से मृत्यु पर काल आकर कर्मफल बताता है।

पुराणों में भी पुनर्जन्म के दृष्टांत मिलते हैं। वायुपुराण (14.34.37) में कहा गया है कि जो व्यक्ति पापाचरण में लिप्त रहता है, वह पहले पशु, फिर हिरण-पक्षी, तत्पश्चात् रेंगने वाला कीट, फिर जंगम होता है (द्रष्टव्य कठोपनिषद 5.6.7)। पद्मपुराण में कर्मफल से विभिन्न योनियों का स्पष्ट वर्णन किया है (2.81.48)। विष्णुपुराण में भी कर्मगति निरूपित है।

स्मृति व नीति ग्रंथों में भी पुनर्जन्म का विवेचन मिलता है। मनुस्मृति (6.12) में कहा है—

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निस्पृहः।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम्।।

अर्थात् मनुष्य तत्त्व की चिंतना कर सारी इच्छाओं का परित्याग कर देता है, तब वह इस लोक व परलोक में सुख पाता है। पुनः दान की महिमा बता कर परलोक में सुख पाने का उल्लेख है (7.86)। अन्य स्थलों पर भी कर्मफल के साथ इहलोक-परलोक-पुनर्जन्म आदि का विवरण है। मनु ने शुभ और अशुभ कर्मों से मनुष्य की विभिन्न योनियों का वर्णन किया है। इसमें मन, वचन और कर्म से इन कर्मों का निर्णय किया है। मनु ने यह भी बताया है कि किस पाप से कौन योनि प्राप्त होती है। मोक्ष प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन आत्मज्ञान है। शुक्र नीति में कृतकर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है। विदुर नीति में सत्रह प्रकार के पुरुषों के लिए कहा है कि उनके पापाचरण से यमदूत आकर नरक में ले जाते हैं (5.1.6), दूसरी ओर स्वर्गगामी पुरुषों के गुणों का भी निदर्शन है (5.14)। अधर्म से प्राप्त धन का कर्मफल

मरणोपरांत व्यक्ति को नहीं मिलता, क्योंकि उसकी प्राप्ति अधर्म से हुई है। याज्ञवल्क्य स्मृति (3.131.135) में पुनर्जन्म का उल्लेख किया गया है। विष्णु धर्मसूत्र (34) मार्कंडेय पुराण, ब्रह्म पुराण, गरुड़ पुराण (प्रेतकांड) आदि में पुनर्जन्म का विवरण प्राप्त होता है।

पुनर्जन्म के संदर्भ में 'प्रेत्य भाव' की भी विशद व्याख्या भारतीय आचार्यों ने की है। **प्रेत्य भवन—प्रेत्य भावः। प्रेत्य मृत्यु भाव**—पुनरुत्पत्ति प्रेत्य भाव—मर कर फिर जन्म लेना ही प्रेत्य भाव है—**मरणोत्तर जन्म प्रेत्य भावः**। प्रेत्य भाव की व्याख्या वस्तुतः जन्म-जन्मान्तर की व्याख्या है। श्रीशक्तिगीता के 'कर्मविज्ञानयोगवर्णनम्' में जैव कर्म की दो गतियां बताई हैं, जिनमें एक गति जीवों को अधःपतित करती है और जड़त्व की ओर ले जाती है—यह गति तमोमयी है—और अधर्म्यसंभूत। दूसरी गति ऊर्ध्व है, जो स्वरूप-चेतन की ओर प्रवृत्त करती है। यह सत्त्वमयी गति है। देवी इस ऊर्ध्वगति से च्युत न होने को कहती हैं। सत्त्वगुण की अवस्था ही मुक्ति विधायक है।

जैवस्य कर्म्मणो देवाः। द्वे गती स्तः प्रधानतः

× × ×

प्रापयेत जड़त्वे च देवाः साऽऽस्ते तमोमयी।।

× × ×

उर्द्धवं प्रापयते जीवान् वृतं जैव्या परा गतिः।
स्वरूप चैतन्यां-सावमिलक्ष्य प्रवर्तते।।

(105, 106-7)

श्रीगीता (6-43-44) में कहा है—

तत्र तं बुद्धि संयोगं लभते सौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धः कुरुनन्दन।

योगी पूर्वजन्म की ब्रह्म विषयक बुद्धि से प्राप्त पुनः मोक्षलाभ के लिए प्रयास करते हैं और पूर्वजन्म के अभ्यास से प्रारब्ध के वश विवश होकर विषय छोड़ ब्रह्मनिष्ठ हो जाते हैं। श्रीकृष्ण गीता में पुनः कहते हैं—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्म-बन्ध-विनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।

सम बुद्धि से युक्त ज्ञानीजन कर्मों से उत्पन्न फल को त्याग कर जन्म रूप बंधन से मुक्त हो निर्विकार परम पद को प्राप्त होते हैं। समत्व योग ही कर्मों की कुशलता और कर्मबंधन से छूटने का उपाय है। पुनः (13-23 में) कहते हैं—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।।

जो मनुष्य पुरुष और गुणों सहित प्रकृति को जानता है, वह सब कर्तव्य कर्म करता हुआ जन्म नहीं लेता। आगे (28-29-30 में) भी वे परम गति एवं सच्चिदानंदघन ब्रह्म को प्राप्त करने वाले मनुष्य का वर्णन करते हैं। **न हिन सत्यात्मानां ततो याति परां गतिम्**—इस अध्याय में परम गति के साथ-साथ आत्मा का भी वर्णन है। ❖

क्रमशः

शेष अगले अंक में

संदर्भ

1. स्वामी प्रेमानंद—जीवनी और पत्रावली (जन्म-मृत्यु, निबंध)
2. डॉ. पांडुरंग वामन काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास
3. डॉ. आर. सी. रानाडे—दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण
4. आचार्य गंगेश्वरानंद (वेदोपदेश चंद्रिका)
5. श्वेताश्वतरोपनिषद् (2-16)
6. श्रीमद्भगवदगीता (8-24-25)
7. शारीरिक भाष्य—आद्य शंकराचार्य (3.1.19) ❖❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500–2000 शब्दों से लेकर 2500–3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

श्रद्धा-भक्ति : सघनतम विश्वास

समणी सत्यप्रज्ञा

साधना का हर मार्ग भक्ति की शक्ति को स्वीकार करता है। 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' कहने वाले अद्वैतवादी, ज्ञानमार्गी शंकराचार्य को भी कहना पड़ा—'मोक्षसाधन सामग्रयां भक्तिरेय गरीयसी।' भक्ति को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा— 'स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते।' जैन आगमों में कहा गया— 'दंसणेण य सद्दहे।'[1] दर्शन से श्रद्धा करता है। सम्यक् दर्शन की अवधारणा को भक्ति के रूप में व्यक्त करते हुए काका कालेलकर ने लिखा—जैन जीवन-दृष्टि ने जिनेंद्र आदि चाहे जो नाम पसंद किया हो, अपनी निष्ठा आत्मतत्त्व को ही अर्पण की है। उपासना का रूप कुछ भी हो, आत्मार्पण तो आत्मदेव को ही हो सकता है।

आत्मा की अनुरक्ति भक्ति है। श्रद्धा दृढ़मनोभूमि में व्याप्त सघनतम विश्वास है। इसके विविध रूपों को व्यक्त करते हुए श्रीमद्भागवत् में कहा गया—

सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा, कर्मश्रद्धा तु राजसी।
तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायान्तु निर्गुणा।।[2]

आध्यात्मिक श्रद्धा सात्त्विक श्रद्धा है। यह मन की वह वृत्ति है जो साधक को विश्व की विविधता के भीतर एक-सूत्रता का दर्शन कराती है। भक्ति ही जीवन है। नदी का सागर की ओर बहना, जीव का शिव की ओर अखंड आकर्षण, 'सीमा' का परिपुष्ट होकर 'भूमा' में समा जाना भक्ति ही है। स्वयं भगवत्ता की उपलब्धि तक भक्त के भावों में भक्ति की अखंड रसमय प्रवृत्ति बढ़ती चली जाती है। कविवर बनारसीदास ने भक्ति के स्वरूप को शब्द देते हुए कहा—'हमारे हृदय की भक्ति कभी तो सुबुद्धि रूप होकर कुबुद्धि को मिटाती है, कभी निर्मल ज्योति बन हृदय में प्रकाश करती है। कभी दयालु होकर चित्त को दयार्द्र बनाती है, कभी अनुभव की पिपासा रूप होकर नेत्रों को स्थिर करती है।'[3]

गीता में भक्ति को महत्ता देते हुए कहा—तपस्वी और ज्ञानी से भी योगी श्रेष्ठ है। परंतु समस्त योगियों में भी जो मन लगाकर श्रद्धापूर्वक मेरा

आध्यात्मिक श्रद्धा सात्त्विक श्रद्धा है। यह मन की वह वृत्ति है जो साधक को विश्व की विविधता के भीतर एक-सूत्रता का दर्शन कराती है। भक्ति ही जीवन है। नदी का सागर की ओर बहना, जीव का शिव की ओर अखंड आकर्षण, 'सीमा' का परिपुष्ट होकर 'भूमा' में समा जाना भक्ति ही है। स्वयं भगवत्ता की उपलब्धि तक भक्त के भावों में भक्ति की अखंड रसमय प्रवृत्ति बढ़ती चली जाती है। कविवर बनारसीदास ने भक्ति के स्वरूप को शब्द देते हुए कहा—'हमारे हृदय की भक्ति कभी तो सुबुद्धि रूप होकर कुबुद्धि को मिटाती है, कभी निर्मल ज्योति बन हृदय में प्रकाश करती है। कभी दयालु होकर चित्त को दयार्द्र बनाती है, कभी अनुभव की पिपासा रूप होकर नेत्रों को स्थिर करती है।

भजन करता है, वह भक्त मुझे सबसे प्रिय है। वह भक्त सबसे श्रेष्ठ है। 'श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।'[4] छांदोग्य उपनिषद का कथन है—जो ज्ञानी भक्तिमान होता है, वही स्वराट् अर्थात् मुक्त होता है।[5] नारद भक्ति-सूत्र के अनुसार—सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा, थल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति।[6] परम-प्रभु के ध्यान से तादात्म्य की मति उत्पन्न हो जाती है। इस सचाई को स्वीकार करते हुए एकीभाव स्तोत्र में कहा गया—

'प्रादुर्भूतस्थिरपदसुख त्वामनुध्यायतो मे।
त्वय्येवाहं स इति मतिरुत्पद्यते निर्विकल्पा।
मिथ्यैवेयं तदपि तनुते तृप्तिमभ्रेषरूपां
दोषात्मानोऽप्यभिमतफलास्त्वत्प्रसादाद्भवन्ति।।

भगवान में जब भक्त का स्नेह होता है तब संसार के विषयों में होने वाला राग समाप्त हो जाता है। जब स्नेह आसक्ति का रूप धारण कर लेता है तब सांसारिक कार्यों में उदासीनता आ जाती है, क्योंकि ये सब उसके लिए बाधक प्रतीत होते हैं। जब स्नेह आसक्ति के अनंतर व्यसन बन जाता है, तब जीव कृतकृत्य हो जाता है।[7] तन्मयता की स्थिति में ही भक्त अपने जीवन को सार्थक मानता है। स्तुति विद्या में आचार्य समंतभद्र ने कहा—प्रभो! प्रज्ञा वही है जो तुम्हारा स्मरण करे, सिर वही है जो तुम्हारे चरणों में विनत हो, जन्म वही है जिसमें आपके पाद-पद्मों का आश्रय लिया गया हो। आपके सिद्धांतों में अनुरक्त होना ही मांगल्य है। वाणी वही है, जो आपकी स्तुति करे और विज्ञान वही है, जो आपके समक्ष प्रणत रहे।[8]

रसमूर्ति रसखान ने इसी भावभूमि से कहा—

मानुष हौं तो वही रसखान बसौं
संग गोकुल गांव के ग्वारन
जो पशु हौं तो कहां बसु मेरो
चरौं नित नंद की धेनु मंझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को
जो कियो हरि छत्र पुरंदर धारन
जो खग हों तो बसेरो करौं
मिलि कालिंदि कूल कदम्ब की डारन।

इष्ट के प्रति यह प्रीति ही श्रद्धा और भक्ति को पुष्ट करने वाली है, संवादी हैं तुलसीदासजी के ये शब्द—'जाने बिनु न होइ परतीति, बिनु परतीति होइ नहिं प्रीति। प्रीति बिना नहीं भगति दृढ़ाई।'

भगवत्ता के अनुकूल भाव से, भक्ति से चित्त अहंकार आदि से मुक्त और सत्त्वगुण युक्त होकर भक्त को भगवद् प्रसाद का पात्र बना देता है। आगे चलकर भक्त स्वयं भगवान बन जाता है।

भक्ति में बाधा पैदा करने वाली प्रत्येक परिस्थिति या व्यक्ति भक्त को इष्ट नहीं, चाहे सांसारिक दृष्टि से भक्त से उसका कितना ही घनिष्ठ संबंध हो! प्रह्लाद ने अपने पिता हरिण्यकशिपु को त्याग दिया, क्योंकि वह स्वयं तो ईश्वर-विमुख था ही, पुत्र को भी बलपूर्वक ईश्वर-विमुख करना चाहता था।[9] विभीषण ने अपने अग्रज रावण को त्याग दिया, क्योंकि उसने राम से शत्रुता की। भरत ने अपनी माता कैकयी को त्याग दिया, क्योंकि उन्होंने राम को कष्ट पहुंचाने वाला कार्य किया। बलि ने अपने गुरु शुक्राचार्य को त्याग दिया, क्योंकि उन्होंने वामन को दान करते समय रोकने का परामर्श दिया था। ये सभी भक्त अंततोगत्वा आनंद के अधिकारी हुए। विष्णुपुराण में प्रह्लाद द्वारा की गई भक्ति बहुत महत्त्वपूर्ण है। वहां कहा गया—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वन पायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मावसर्पतु।।[10]

जब प्रीति का तार परम-आत्मा से जुड़ जाता है तो भव-परम्परा का भय नहीं रहता। तुलसीदासजी की जीवन-दिशा को मोड़ने वाले बने उनकी पत्नी के प्रेरक शब्द—'अस्थि चर्ममय देह मम या में जैसी प्रीति, तैसी जो श्रीराम में होत न तो भव भीति।।'

रहस्य साधना में साधक को जब योग साधना का मार्ग दुर्गम प्रतीत होता है तो वह प्रपत्ति का सहारा लेता है। प्रपत्ति का तात्पर्य अनन्य शरणागति से है। प्रपत्ति की छह विधाएं बताई गई हैं—(1) आनुकूल्य का संकल्प, (2) प्रातिकूल्य का विसर्जन, (3) संरक्षण, (4) एतद् रूप विश्वास-गोप्तृत्व रूप में वरण, (5) आत्म-निक्षेप, (6) कार्पव्यभाव।[11] नवधा भक्ति का उत्स भी यही है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।

ब्रह्मसूत्र भाष्य में उपासना को ज्ञान प्राप्ति में महत्त्वपूर्ण माना गया है। बौद्ध दर्शन में भी 'शमथ'—अर्थात् चित्त की एकाग्रता रूप समाधि प्रज्ञा के उदय के लिए आवश्यक मानी गई। ध्यान के अनंतर ही प्रज्ञा का उदय होता है। इसी से परम तत्त्व की अनुभूति होती है। शमथ में प्रपत्ति रूपी भक्ति ही प्रधान होती है। मुसलमान लोग इबादत शब्द का प्रयोग करते

हैं। 'अबद' शब्द से बने इबादत का अर्थ है—गुलाम या सेवक। जो सेवा करे वह सेवक। इस प्रकार इबादत भक्ति का ही पर्याय हो जाता है।

दर्शन या श्रद्धा का लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार है। 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्'—गीता का यह सूक्त जैन दर्शन के बहुत निकट आ जाता है। मोक्षमार्ग में सम्यक् दर्शन पहली शर्त है। दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता। ज्ञान के बिना चारित्र-गुण नहीं होता। अगुणी व्यक्ति की मुक्ति नहीं होती। अमुक्त का निर्वाण नहीं होता है।[12] 'समिक्ख पन्नाइ वरं खु दंसणं।' प्रज्ञा से समीक्षा करें तो दर्शन ही प्रधान है।[13]

जैन साधना में भक्ति का स्थान मुक्ति के सोपान रूप में स्वीकृत है। भक्ति का तात्पर्य अपने इष्टदेव में, परम-आत्मा में अनुराग से है। वस्तुतः आत्मा ही परम आत्मा है। इसीलिए आत्मानुराग भक्ति का फलित है। इस अनुराग के साथ ही विनय, सेवा, उपासना, स्तुति, शरणगमन आदि क्रियाएं विकसित हो जाती हैं। इस संदर्भ में पर्युपासना शब्द का प्रयोग भी मिलता है। उपासकदशा में पर्युपासना का क्रम उवगमन, अभिगमन, आदक्षिणा, प्रदक्षिणा, वंदन, नमस्कार, पर्युपासना बताया है। स्तवन, सामायिक आदि के द्वारा भी भक्ति करता हुआ साधक अपनी साधना को विशुद्धतर बनाने में जुटा रहता है। तीर्थंकरत्व की प्राप्ति में अर्हत्-भक्ति, सिद्ध-भक्ति, गुरु-भक्ति, श्रुत-भक्ति आदि को साधन स्वीकार किया गया है।[14]

यहां भक्ति के दो रूप बन जाते हैं—निश्चय और व्यवहार। नैश्चयिक भक्ति का संबंध वीतराग-सम्यक् दृष्टियों के शुद्ध आत्म-तत्त्व की भावना से है। व्यावहारिक भक्ति का संबंध सराग सम्यक् दृष्टियों की आराधना से भी है। इसमें उपास्य को दुखमोचक जानकर भक्ति की जाती है। यह अंतरंग भावों से जुड़कर ही सार्थक हो सकती है। प्रपत्त भावना के सहारे साधक अपने आराध्य के सान्निध्य में पहुंच कर तत्तत् गुणों को स्वात्मा में उतारने का प्रयास करता है। प्रपत्ति में श्रद्धा व प्रेम की विशुद्ध भावना का अतिरेक होने से साधक अपने आराध्य के रंग में रंगने लगता है। तद्रूप हो जाने से उसका दुविधा भाव समाप्त हो जाता है, समरस भाव का प्रादुर्भाव हो जाता है, वीतरागता शुक्ल ध्यान के रूप में स्फुरित हो जाती है।[15]

तीर्थंकरों की प्रत्यक्ष सन्निधि के अभाव में सुगुरु ही जीवन-निर्माण में हेतुभूत है। वे तीर्थंकरों के सिद्धांतों और उपदेशों का बोध देते हैं। शास्त्रों का गंभीर ज्ञान गुरु-कृपा से ही प्राप्त होता है। शिष्य का विनम्र समर्पण, सेवा-शुश्रूषा एवं आज्ञापालन के महत्त्व की विवेचना करते हुए वाचकवर्य उमास्वाति ने कहा—गुरु के प्रति विनय भाव रखने से सेवा भाव की जागृति, धर्म श्रवणेच्छा, शास्त्रों के गंभीर ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान का फल वामाचरण से निवृत्ति है। पाप निवृत्ति से संवर, संवर से तप, तप से निर्जरा, निर्जरा से क्रिया निवृत्ति, क्रिया निवृत्ति से अयोगी अवस्था प्राप्त होती है। योग-निरोध से भव-परंपरा का अंत हो जाता है और मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः विनय समस्त कल्याणों का कारण है।[16] सम्यक् दर्शन की यह भूमिका केवल बाह्य आचार तक ही नहीं सिमट जाती अपितु 'अट्ठिमिंजपेमाणुरागस्ते'—अस्थि, मज्जा तक यह श्रद्धा पुष्ट होकर व्याप्त हो जाती है। इसी श्रद्धा की पुष्ट भूमिका से स्वर उभरता है—

अरहंतो महदेवो जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं इय सम्मतं मए गहियं।।

अरहंत मेरे देव हैं। सुसाधु मेरे गुरु हैं। जिनप्रज्ञप्त तत्त्व ही वास्तविक है। यह श्रद्धा मैंने स्वीकार की है। सम्यक् विचार, रूप-सम्यक्त्व का आदर, सम्यक् दृष्टि गुरुजनों का सम्मान एवं अनाशातना का भाव इसमें समाहित है। गुरु-शिष्य का संबंध नीर और मीन का, चातक और मेघ का, भ्रमर और कमल का, चकोर और चंद्र का है। आचार्य भिक्षु ने शिष्य की आंतरिक अभिलाषा को 'विनीत-अविनीत की चौपई' में व्यक्त करते हुए कहा—'किरपा करो स्वामीनाथ, म्हारे मस्तक राखो हाथ।' शिष्य जानता है—विनयः कारणं प्रीतेर्विनयः कारणंश्रियः' विनय प्रीति, बुद्धि और लक्ष्मी का कारण है। विनय, श्रद्धा और अनपायिनी भक्ति से जुड़ा यह दर्शन शिष्टता, सभ्यता एवं सद्व्यवहार की कुंजी है। इसके अनुशीलन से व्यक्ति गुरुजनों का प्रिय एवं स्नेहपात्र तो बनता ही है, सुयोग्य एवं दक्ष विद्यार्थी भी बन जाता है। उसके हर कार्य के पीछे चिंतन रहता है—'मैं ऐसा कोई कार्य न करूं जिससे प्रवचन की लघुता हो, देव-गुरु-धर्म की हलकी लगे। देव-गुरु-धर्म की ज्येष्ठता एवं श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए, बहुमान-जनक व्यवहार दर्शन, विनय का एक पक्ष है। इस विनम्रता के आलोक में व्यक्ति की महानता के दर्शन किए जा सकते हैं। आत्म-विशोधी, परमात्म स्वरूप का प्रकटीकरण नैश्चयिक सम्यक् दर्शन का फलित है। ❖

शेष पृष्ठ 31 पर

अनुभूति

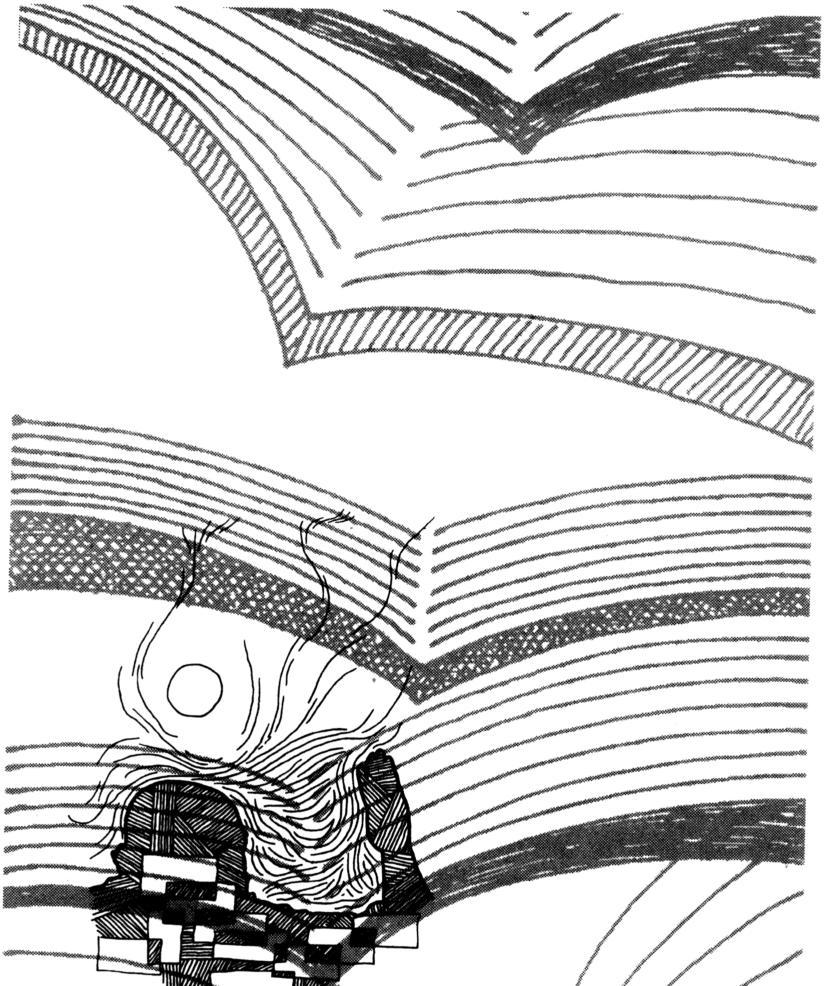

मेरे गीतों के सुर से तुम तृप्त, मुग्ध हो जाते,
अच्छे लगते वे तुमको, यह गान स्वयं बतलाते—
वे मुझे तुम्हारे सनमुख जाकर हैं बैठा आते।

मन जिसको देख न पाता, ये गान देख लेते हैं,
चरणों को छूकर आते, मुझको ये सुख देते हैं।
इनके हर राग मधुर से, इनके उठते हर सुर से,
मैं भूल स्वयं को जाता,
देखो, फिर अपने प्रभु को—'ओ, बंधु!'
सहज कह पाता।

—**रवीन्द्रनाथ ठाकुर**
अनुवाद : **प्रयाग शुक्ल**

भारतीय संस्कृति की धुरी—ध्येयनिष्ठा

पांडुरंग सदाशिव साने

भारतीय संस्कृति में त्याग और पवित्रता—इन दो गुणों का बहुत बड़ा स्थान है। भारतीय मनुष्य केवल पैसे को, केवल सत्ता को महत्त्व नहीं देता। उस गुण के साथ त्याग और पवित्रता भी होनी चाहिए। भारतीय जनता ने कभी राजा की पालकी नहीं उठाई है; लेकिन संतों की पालकी तो प्रतिवर्ष हजारों लोग उठाते हैं। जनक केवल इसलिए प्रातःस्मरणीय नहीं थे कि वह राजा थे, बल्कि इसलिए कि वह ज्ञानी होकर भी विरक्त थे। त्याग के बिना ज्ञान नहीं मिलता। आसक्त के लिए ज्ञान कहां है? जीवन में जैसे-जैसे ज्ञान की अनुभूति होने लगती है, वैसे-वैसे त्याग भी होने लगता है। अतः भारतीय संस्कृति त्याग को ही ज्ञान का चिह्न मानती है।

कहा जाता है कि महापुरुषों का चरित्र ही इतिहास होता है। भारतीय संस्कृति के इतिहास के मानी है—भारतीय संतों का इतिहास, भारतीय वीरों का इतिहास। भारतीय संस्कृति में एक-एक सद्गुण के लिए, एक-एक ध्येय के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर देने वाली महान विभूतियां दिखाई देती हैं। भारतीय संस्कृति मानो इन विभूतियों का ही इतिहास है।

सत्य के लिए रामचंद्रजी वन में गए। पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए चौदह वर्ष तक वन में रहने को तैयार हो गए। चौदह वर्ष बाद जब फिर उन्हें अयोध्या का राजसिंहासन मिला, उस समय का उनका व्यवहार कितना उदात्त रहा! भगवती सीता की पवित्रता के संबंध में प्रजा के मन में शंका है, यह बात मालूम होते ही, वे गर्भवती सीता का परित्याग कर देते हैं। प्रजा के सामने धुले हुए चावल की तरह सच्चरित्रता होनी चाहिए। संशय को थोड़ा भी स्थान देना ठीक नहीं होता। यह कहा जा सकता है कि कोई एक दुश्चरित्र आदमी यदि ऐसी बात कहता है, तो उसकी बात को इतना तूल नहीं देना चाहिए था। लेकिन, रामचंद्रजी के सामने तो एक भिन्न आदर्श था। वे सारी प्रजा की पुंजीभूत पवित्रता के प्रतीक थे। जो राजा प्रजा को पवित्र देखना चाहता है, उसे स्वयं संशयातीत रहना चाहिए। रामचंद्रजी तो प्रजा के पाप-पुण्य को स्वयं अपने ऊपर लेते थे। अल्पायु ब्राह्मणकुमार के मरने का पाप भी उन्होंने अपने सिर पर ले लिया था। उन्हें ऐसा लगता था कि कहीं-न-कहीं मेरी भूल हुई है।

भारतीय संस्कृति में त्याग और पवित्रता—इन दो गुणों का बहुत बड़ा स्थान है। भारतीय मनुष्य केवल पैसे को, केवल सत्ता को महत्त्व नहीं देता। उस गुण के साथ त्याग और पवित्रता भी होनी चाहिए। भारतीय जनता ने कभी राजा की पालकी नहीं उठाई है; लेकिन संतों की पालकी तो प्रतिवर्ष हजारों लोग उठाते हैं। जनक केवल इसलिए प्रातःस्मरणीय नहीं थे कि वह राजा थे, बल्कि इसलिए कि वह ज्ञानी होकर भी विरक्त थे। त्याग के बिना ज्ञान नहीं मिलता। आसक्त के लिए ज्ञान कहां है? जीवन में जैसे-जैसे ज्ञान की अनुभूति

होने लगती है, वैसे-वैसे त्याग भी होने लगता है। अतः भारतीय संस्कृति त्याग को ही ज्ञान का चिह्न मानती है।

त्याग के साथ पवित्रता भी आती है। जो त्याग ज्ञान की अनुभूति में से उत्पन्न होता है, वह अपने साथ पवित्रता लाए बिना नहीं रहता। सब लोगों की दृष्टि इस बात पर है कि भारत में स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध कैसे हैं? यहां कार्य-पावित्र्य पहले देखा जाता है। आपमें दूसरे बहुत-से गुण हैं, लेकिन कार्य-पावित्र्य का महान गुण नहीं है तो जनता आपका आदर नहीं करेगी। आप जनता के हृदय के स्वामी नहीं हो सकेंगे।

लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी के प्रति हमारी अपार भक्ति का कारण है उनका निष्कलंक चरित्र और अपार त्याग। भारतीय जनता सबको कार्य-पावित्र्य का थर्मामीटर लगाकर देखती है, त्याग की कसौटी पर परखती है। जो इन दोनों कसौटियों पर खरा उतरता है, उस महापुरुष को वह सिर पर उठाकर नाचती है।

लोगों के मन पर इन दोनों गुणों का महत्त्व अंकित करने के लिए भारतवर्ष में अपार त्याग किया गया। सूरदास के कमल-जैसे सुंदर नेत्र देखकर एक स्त्री के मन में कामवासना उत्पन्न हो गई। यह बात मालूम होते ही सूरदास ने अपनी आंखें फोड़ लीं। उस प्रेम-विह्वल रमणी ने पूछा—'भगवान की दी हुई आंखें आपने इस तरह क्यों फोड़ लीं?' सूरदास ने कहा—'यदि इन सुंदर आंखों के कारण तुम्हें सुंदरतम भगवान के दर्शन होते तो मैं इन आंखों को धन्यवाद देता। यदि तुम्हारे मन में यह विचार आता कि इन आंखों को देनेवाला ईश्वर कितना अधिक सुंदर होगा, तो कितना अच्छा होता! तब मेरी आंखें कृतार्थ हो गई होतीं। लेकिन, मेरी इन सुंदर आंखों ने तो तुम्हारे मन में ज्वाला जला दी। क्षुद्र काम-भोग की इच्छा उत्पन्न कर दी। इन आंखों ने तुम्हें कीचड़ में घसीटा। जो विषैली आंखें लोगों का इस प्रकार अधःपतन करवा देती हैं उनको मैं कैसे रखूं? उनको तो फोड़ देना ही ठीक था।'

राम राजा थे। उनका उदाहरण हमेशा लोगों के सामने रहेगा। कहा जाता है कि—'यथा राजा तथा प्रजा।' अतः राजा के ऊपर बहुत जिम्मेदारी है। भारत के नेताओं को रामचंद्रजी के इस उदाहरण को नहीं भूलना चाहिए। रामचंद्रजी ने ध्येय की पराकाष्ठा कर दी। लोगों के मन में पवित्रता के लिए अविचल श्रद्धा उत्पन्न करने के उद्देश्य से जब इस प्रकार का त्याग किया जाएगा और जनता उसे देखेगी तभी अधिकांश लोगों पर पवित्रता का थोड़ा-थोड़ा महत्त्व प्रकट होगा, अन्यथा नहीं।

हिमालय के शुभ्र और उच्च शिखर की भांति राम की उदारता जितनी दिखाई देती है, उतनी ही सीता की सहनशीलता भी दिखाई देती है। अपने पति पर किए गए आक्षेपों को वह किस प्रकार सहन कर सकती थी? अपनी निंदा के दुख की अपेक्षा रामचंद्रजी के चरित्र की निंदा उसे ज्यादा बुरी लगी होगी। और, राम-सीता कहीं अलग-अलग थोड़े ही थे। वे तो एकरूप ही थे। सीता कहीं भी जाती, उसके जीवन में राम ओत-प्रोत हो रहे थे। और, सीता कहीं भी होती, वह तो रामचंद्रजी के जीवन में विलीन हो चुकी थी।

सीता कोई दुर्बल स्त्री नहीं थी। उसमें पवित्रता की जबरदस्त शक्ति थी। उसने तो पति-प्रेम का कवच धारण कर रखा था। पति की इच्छा ही उसकी इच्छा थी। वह प्रेम में एकरूप हो गई थी। वह राम-रूप हो चुकी थी। राम ने सीता को वनवास नहीं दिया था, उन्होंने तो मानो अपने ही आधे अंग को काटकर फेंक दिया था। प्रेम का अर्थ है—प्रिय वस्तु में डूब जाना। प्रेम का अर्थ है—'अपनी आंखों अपनी मृत्यु देखना।' सीता का प्रेम पराकाष्ठा को पहुंच गया था। वह प्रेम की चरम सीमा थी। इसीलिए तो सीता भारतीय स्त्रियों के लिए महान धर्म बन गई है। मानो सीता ही स्त्रियों का धर्म हो। स्त्रियों के सैकड़ों गीतों में सीता की महिमा भरी पड़ी है।

और, देखिए भरत का भ्रातृप्रेम! मेरे राम तो वन जाएं और मैं राजगद्दी बैठूं? राम कंदमूल खाएं और मैं मिष्टान्न खाऊं? भरत नन्दीग्राम में चौदह वर्ष राम को स्मरण करते हुए रहे। उन्होंने भी वल्कल पहने। उन्होंने भी जटाएं धारण कीं। वह भी कंदमूल पर रहे।

लक्ष्मण तो राम के साथ ही वन में गए। भरत रामचंद्रजी का चिंतन करते हुए जिंदा रहे, परंतु लक्ष्मण तो उनके दर्शन करके ही जीवित रहे। तुलसीदासजी के रामचरितमानस में इस प्रसंग का बड़े ही सुंदर ढंग से वर्णन किया गया है। लक्ष्मण ने कहा—'रामचंद्रजी, बिना पानी के मछली कैसे जीवित रह सकती है? बिना मां के बच्चा कैसे रहेगा? उसी तरह आपके बिना मैं कैसे रह सकता हूं? लकड़ी के ऊपर ध्वजा फहराती है। अपने यश की ध्वजा फहरने देने के लिए लक्ष्मण को उसकी लकड़ी बनने दो। लक्ष्मण आपके ही लिए है। आपके बिना लक्ष्मण का कोई अर्थ नहीं होता।'

भारतीय संस्कृति को राम-लक्ष्मण, सीता-भरत ने ही बनाया है। भारतीयों के खून के कण-कण में उनके चरित्र समाए हुए हैं। भारतीयों की आंखों के सामने यह लिखा हुआ है कि यह महान आदर्श अमर है।

भिन्न-भिन्न आदर्शों की कोई कमी नहीं है। ब्रह्मचर्य की साधना करनेवाले भारतीय उपासकों को देखिए। हनुमानजी को देखिए। लंका में इधर-उधर तलाश करते हुए वह रनिवास की ओर नहीं मुड़े। केवल एक झोंपड़ी में से 'राम-राम' का जप सुनकर उन्होंने झांका। वहां त्रिजटा थी। इसी प्रकार हैं—अपार इच्छा शक्तिवाले, अपनी इच्छानुसार मरने वाले भीष्म, वैराग्य के रंग में पूरे रंगे हुए शुक।

भारतीय साहित्य में कई ऐसे प्रसंग हैं कि उनका सानी विश्व-साहित्य में नहीं मिलता। शुक-परीक्षा का प्रसंग इसी प्रकार का है। वसंत ऋतु अपना सारा उन्माद और वैभव वहां फैला देती है। कोकिल उत्कट प्रेम-भावना से कुहू-कुहू करती है। प्रेम से एक-दूसरे के पंख खुजलाती हैं। फूलों में से खुशबू निकल रही है। प्रसन्न हवा बह रही है। नए पल्लव और कोंपलें फूटी हुई हैं। मानो सारा वातावरण मादक हो रहा हो। और वह सुंदरी रंभा सैकड़ों विलासी हाव-भाव बताती हुई खड़ी है। उसके वस्त्र हवा के झोंकों में उड़ रहे हैं, जैसे सारी सृष्टि आसमान तक सुंदरता से ओत-प्रोत हो रही है। रंभा शुक को आलिंगन करती है, लेकिन उनके एक रोम में भी सिहरन नहीं होती।

वैराग्यमूर्ति शुक के साथ-ही-साथ निश्चयमूर्ति ध्रुव हमारी आंखों के सामने आ जाता है। पिता द्वारा गोदी में से उतार दिए जाने का अपमान उसे सहन नहीं हुआ। उस अटल पद को प्राप्त करने के लिए वह तेजस्वी बालक घर से निकल जाता है, जहां से उसे कोई उतार नहीं सकता। पिता को लज्जा अनुभव होती है और वह बालक का पीछा करता हुआ जाता है—

लौटो बेटा, दे दूंगा दो ग्राम तुझे,
बोले ध्रुव—क्या दे सकते हो राम मुझे?

पिता सारा राज्य दे देने की बात कहते हैं, लेकिन दृढ़व्रती ध्रुव वापस नहीं लौटता।

ऐसे ही हैं बालभक्त प्रह्लाद। एक बार 'नहीं' कहा तो फिर हमेशा 'नहीं'। वह कहता था—'चाहे पहाड़ से गिरा दीजिए, आग में खड़ा कर दीजिए, चाहे शूली पर चढ़ा दीजिए, चाहे फांसी पर, मैं भगवान का स्मरण किए बिना नहीं रह सकता।' यह ध्येयवादी प्रह्लाद हमेशा भारत को स्फूर्ति देता रहेगा। हम कहेंगे—वंदेमातरम्, स्वराज्य, इनकलाब जिंदाबाद! फिर चाहे उस शरीर का कोई कुछ करे। हमारा ध्येय हमारे जीवन में प्रकट होगा। जो होंठों पर, वही मन में। जो हाथ में, वही आंखों में। भगवान के स्मरण का अर्थ है—सारी मानव-जाति का स्मरण। जो सारे मनुष्यों का घर है, वही नारायण का स्वरूप है। सारी मानव-जाति को सुखी करने की इच्छा करना मानो भगवान का झंडा फहराना है।

और सत्यमूर्ति, सत्यसागर राजा हरिश्चंद्र! स्वप्न में कहे गए शब्दों का पालन करने के लिए उसने कितना त्याग किया! कितना कष्ट उठाया! वह स्वप्न में भी असत्य का स्पर्श पसंद नहीं करते थे। तारामती, रोहित और हरिश्चंद्र तीनों का मूल्य त्रिभुवन के बराबर है।

चांडाल के यहां नौकरी करते हुए कितनी हृदयविदारक घटना घटी! वह अपने बालक के लिए भी अग्नि नहीं दे सकते थे। उन्हें अपनी पत्नी की ही हत्या करने के लिए तलवार उठानी पड़ी। उनका मन कितना कुसुमादपि कोमल और वज्रादपि कठोर था!

ध्येय से जरा भी च्युत होने का फल भोगना पड़ता है। ध्येय तो ध्येय ही है। कपड़े के ढेर में एक भी चिंगारी पड़ जाने से सब स्वाहा हो जाता है। 'नरो वा कुंजरो वा'—कहते ही धर्मराज का पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर चलने वाला रथ दूसरों के रथ की तरह ही पृथ्वी पर चलने लग गया। पवित्रतम राजा नल के पैर की अंगुली का एक थोड़ा-सा भाग अच्छी तरह धुल नहीं पाया, थोड़ा मैला रह गया, बस उस तिल बराबर जगह में से ही कलियुग उनके जीवन में प्रविष्ट हो गया।

इस प्रसंग में एक महान सत्य कहा गया है। पाप तो मालूम हुए बिना ही धीरे-धीरे प्रविष्ट होता रहता है। बस, एक ही प्याला (एक मराठी नाटक का नाम), इस एक प्याले को ही फेंक देना चाहिए। इस बात में सावधान और चौकन्ने रहना चाहिए कि पहला कदम ही गलत न उठने पाए। कविवर रवींद्रनाथ की गीतांजलि में एक बड़ा ही सुंदर गीत है—

'वह बोला—'मुझे एक कोने में जगह दे दो। मैं कोई गड़बड़ नहीं करूंगा।' लेकिन रात्रि के समय उसने विद्रोह किया और वह मेरी छाती पर चढ़ बैठा। मेरे हृदयासन पर बैठी हुई मूर्ति को ढकेलकर उसने वहां अपना राज्य जमा लिया।'

इस गीत का भाव यही है। शैतान का आगमन इसी प्रकार हमें धोखे में डाल देता है। रोग के जंतु धीरे-धीरे

प्रवेश करते हैं और फिर सारे शरीर में व्याप्त हो जाते हैं। विदेशी सत्ता धीरे-से आती है और सर्वत्र फैल जाती है। अतः पहले ही से सचेत रहना चाहिए।

महारथी कर्ण और राजा बलि ने दानशीलता की हद कर दी। यह जानकर भी कि अपने शरीर के कवच-कुंडल देने से मृत्यु का आलिंगन करना होगा, कर्ण अपने शरीर के कवच-कुंडल काट-काटकर दे देता है। मुंह से 'नाहीं' कहने के बजाय मृत्यु स्वीकार कर लेना उसका स्वभाव ही बन गया था। वह अपने पिता सूर्य से कहने लगा—'मैं मूर्ख नहीं हूं। मैं तो व्यावहारिक हूं। संसार उसे ही व्यावहारिक व्यक्ति कहता है जो थोड़ी कीमत देकर बहुत-कुछ प्राप्त कर लेता है। मैं इस नश्वर शरीर को देकर अमर कीर्ति को प्राप्त कर रहा हूं। इस मिट्टी को देकर ऐसा यश ले रहा हूं जो संसार के अंत तक टिका रहेगा।' उसने यह कितना सुंदर और अच्छा सौदा किया!

इसी तरह राजा बलि भी हैं। जब वामन के पैर रखने के लिए जगह नहीं बची, तब उसने अपना सिर आगे कर दिया। बलि को मुसीबत में पड़ा देखकर मदमत्सर से भरे हुए देवता नगाड़े बजाने लगे, दुंदुभी बजाने लगे, लेकिन धीर-वीर बलि कहता है—

अमरों की जयजयकारों का मुझे नहीं भय उतना।
अपने अपयश का प्रतिदिन ही लगता है भय जितना।।

(मुझे तो अपने यश की चाह है। मैं इन देवताओं के हो-हल्ले की चिंता नहीं करता।)

'मृच्छकटिक' में चारुदत्त ने भी इसी प्रकार के उद्‌गार प्रकट किए हैं—

विशुद्धस्य हि मे मृत्युः
पुत्रजन्मसमः किल।

यह भारतीय संस्कृति की आवाज है।

शरणागत की रक्षा के लिए राजा शिवि अपनी जंघा का मांस काटकर दे देता है। मयूरध्वज आधा शरीर काटकर दे देता है और जब उसे मालूम होता है कि मेरी बाईं आंख में आंसू देखकर अतिथि चला जाएगा तो वह कहता है—'यह पानी मेरी आंख में इसलिए नहीं आया कि इस शरीर को करवत से काटकर मुझे देना पड़ रहा है, बल्कि इसलिए कि दाहिना अंग सार्थक हो रहा है और इसे उतना सौभाग्य नहीं मिला है।'

अतिथि के सामने अपने इकलौते पुत्र के सिर का मांस पकाकर परोसने वाली चांगुणा अपने पुत्र का सिर गाते हुए कूटती है। कितना धैर्य है! कितना त्याग है! कितनी ध्येतोत्कटता है! और अंत में अतिथि राजा को भी भोजन करने के लिए बुलाता है। राजा श्रीपाल विकल हो जाता है। उस समय वह महासती पति को धैर्य देते हुए कहती है—

मैंने रखा था इस सुत को खुशी-खुशी नव मास उदर में।
क्या तुम निपट विकल होओगे रखकर उसको चार प्रहर में।

(मैंने अपने इस पुत्र को प्रसन्न-मन नौ महीने तक पेट में रखा था। क्या तुम उसे चार प्रहर भी अपने पेट में नहीं रख सकोगे?)

राजा हंसध्वज मुनादी करवाता है कि जो लड़ाई के लिए तैयार होकर घर से बाहर नहीं आएगा उसे गरम-गरम तेल में डाल दिया जाएगा। लेकिन, उसका प्रिय पुत्र सुधन्वा पत्नी-प्रेम के कारण घर पर ही रह जाता है। उसे आने में देर हो जाती है। लेकिन, न्यायप्रिय हंसध्वज आगा-पीछा नहीं देखता। वह अपने मन में सोचता है कि जो सजा मैं दूसरों को देता हूं, क्या मुझे वही सजा अपने पुत्र को नहीं देनी चाहिए? सुधन्वा गरम तेल में डाल दिया जाता है।

सावित्री अपने पति के लिए यमराज के पीछे-पीछे जाने के लिए तैयार होती है। घोर जंगल! रात्रि का समय! सामने मृत्यु-देवता! लेकिन वह सती डरती नहीं है। वह यमराज का ही हृदय-परिवर्तन कर देती है।

और वह गांधारी! उसने सोचा—जब पति अंधे हैं, तब मैं दृष्टि का सुख कैसे भोगूं? वह जन्म-भर तक अपनी आंखें बांधकर रखती है। इस त्याग की तो कल्पना भी नहीं हो सकती। गांधारी के सामने भगवान कृष्ण थर-थर कांपते हुए खड़े रहते थे।

विश्व-भर से प्रेम करने वाले भगवान बुद्ध भूखी वृद्ध बाघिन के मुंह में अपनी जंघा दे देते हैं। संत नामदेव यह सोचकर कि कुत्ता बिना चुपड़ी हुई रोटी कैसे खाएगा, उसके पीछे घी लेकर दौड़ते हैं। वृक्ष काटने वाले के सामने तुलसीदास जाते हैं और उससे कहते हैं—'भाई, मेरी गरदन पर प्रहार कर, लेकिन उस वृक्ष पर मत कर।' कबीर की आज्ञा पर जंगल से घास काटकर लाने वाला कुमार कमाल जब प्रभात की मंद-मंद वायु में घास को हिलते हुए देखता है तो द्रवित हो जाता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है, मानो घास के हरे तिनके कहते हैं—'भाई, हमें मत काटो। भाई, हमें मत काटो।' उसके हाथ से हंसिया गिर

जाता है। आंखों में प्रेमाश्रु उमड़ पड़ते हैं। वह वैसे ही लौट आता है। यह सब सुनकर कबीर कमाल के चरणों में गिर जाते हैं।

जगन्नाथपुरी के पास के नीले आकाश को देखकर और मन में यह सोचकर कि यह मेरा घनश्याम कृष्ण ही है, हाथ ऊंचे करके समुद्र में नाचते फिरने वाले महान बंगाली वैष्णव वीर चैतन्य! विष का प्याला पीने वाली, काले सांप को शालिग्राम मानने वाली, भक्ति-प्रेम से नाचने वाली मीरा! स्वामी के काम के लिए अपने पुत्र का बलिदान करने वाली पन्ना!

'यदि दिन में चौबीस के बजाय पचीस घंटे होते तो मैं प्रजा का अधिक कल्याण कर सका होता'—यह कहने वाला विश्व-भूषण राजा अशोक!

प्रति पांचवें साल अपने सारे खजाने को लुटाकर अकिंचनत्व को सुशोभित करने वाला राजा हर्ष!

जंगल में कंद-मूल-फल पर जीवित रहने वाला, घास-फूस पर सोने वाला राणा प्रताप!

'प्रजा के द्वारा लगाए गए पेड़ों को भी हाथ न लगाओ'—इस प्रकार का आज्ञापत्र निकालने वाले और पर-स्त्री को माता के समान समझने वाले छत्रपति शिवाजी!

फल के बगीचे में से अपने हाथों एक फल तोड़ लिए जाने पर अपने हाथ कटवा देने की इच्छा रखने वाले दादाजी कोंडदेव!

'मैंने पांच तोपें सुन लीं, अब सुख से मर रहा हूं'—ये शब्द कहने वाले बाजी प्रभु!

'पहले कोंडाण्या का विवाह, बाद में रायबा का'—यह कहने वाले तानाजी!

धर्म के लिए अपने राई-जैसे टुकड़े करवा लेने वाले संभाजी!

अपने स्वामी के कार्य के लिए सब-कुछ बेच देने वाले खंडों बल्लाल!

'बचेंगे तो और लड़ेंगे'—कहने वाले दत्ताजी!

'ऐसा काम कीजिए कि मुंह से गिरने वाला कफ शौच के द्वारा निकल जाए और मेरा मुंह राम-राम बोलने के लिए मुक्त हो जाए'—वैद्यों से इस प्रकार की प्रार्थना करने वाले पेशवा प्रथम माधवराव!

'तुम्हें प्रायश्चित्त के रूप में अग्नि-स्नान करना चाहिए'—ऐसा राघोबा को कहने वाले न्यायमूर्ति रामशास्त्री।

प्रजा को कष्ट पहुंचाने वाले अपने पुत्र को भी त्याग देने वाली देवी अहिल्याबाई!

'मेरे मरने के बाद दूसरों को मेरे शरीर का स्पर्श न करने देना'—यह बात कहने वाली झांसी की रानी लक्ष्मीबाई!

'मैंने, जो उचित था वही किया, मुझे खुशी से फांसी दे दी जाए'—यह कहने वाले तांत्या टोपे!

यह है भारतीय परंपरा! यह है ध्येय-पूजा! भारत के प्रत्येक प्रांत में इस प्रकार की ध्येय-पूजा करने वाले नर-नारी-रत्न सतत जन्म लेते रहे हैं।

आज भी उस दृष्टि से भारत मरु नहीं बना है। परतंत्रता के सर्वभक्षक काल में भी भारत ने हमेशा ऐसे ध्येयनिष्ठ मनुष्यों को जन्म दिया है जो सबके हृदय में श्रद्धा का स्थान प्राप्त करने योग्य हैं। ❖

श्रद्धा-भक्ति : सघनतम विश्वास पृष्ठ 24 का शेष

संदर्भ

1. उत्तराध्ययन—28.35
2. श्रीमद्भागवत 11.25-27
3. नाटक समयसार उत्थानिका, पृ. 11-12
4. गीता 6.46-47
5. छांदोग्य उपनिषद, पृ. 516-517
6. नारद भक्ति-सूत्र, 2-4
7. भक्तिवर्धिनी, पृ. 204
8. स्तुतिविद्या, 113
9. विनय पत्रिका, 456-457
10. विष्णुपुराण 1.2.17
11. पांचरात्र लक्ष्मी संहिता
12. उत्तराध्ययन 28-30
13. आवश्यक निर्युक्ति 1158
14. श्री भिक्षु आगम विषय कोश, पृ. 301
15. जैन रहस्यवाद
16. जैन तत्त्व कलिका

❖❖

पत्तेयं पुण्णपावं

मुनि मदनकुमार

मनुष्य का जीवन संबंधों की आधारशिला पर अवलंबित है। सेवा, सहयोग और सापेक्षता उसकी सफलता के आधारभूत घटक हैं। जैन सूक्त 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' इस सचाई का प्रमाण है। जीवनपर्यंत संबंधमय जीवन जीना मानव-जीवन की नियति कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होगा। सर्वथा संबंधातीत जीवन की परिकल्पना देहधारी के लिए संभव नहीं है। समाज को छोड़ देने वाला साधु भी संघबद्ध जीवन जीता है। सर्वज्ञ और तीर्थंकर भी संघयुक्त और संघनिष्ठ जीवन जीते हैं, फिर संबंधातीत जीवन कहां है? संबंध मानव-जीवन की अनिवार्यता है और संबंधों में माधुर्य मानव-जीवन की उपादेयता है।

जीवन के दो पक्ष हैं—निश्चय और व्यवहार। आत्मानुभूति में रहना जीवन का निश्चय-पक्ष है और संबंधों के वातायन में श्वास लेना जीवन का व्यवहार-पक्ष है। यह जीवन दो तत्त्वों का समवाय है—आत्मा और शरीर। आत्मा की विस्मृति न हो, इसके लिए निश्चय-दृष्टि का विकास जरूरी है और जीवन सम्यक् रूप से संचालित हो, इसके लिए व्यवहार-दृष्टि का सम्मान जरूरी है। जाने-माने दार्शनिक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इन दोनों दृष्टियों का समन्वय करते हुए कहा—रहे भीतर, जीए बाहर। इस सूत्र की आराधना कर व्यक्ति आवेश, अपराध और आतंक से मुक्त जीवन जी सकता है। यह मन को शांत और घर को स्वर्ग बनाने का अप्रतिम पथ-दर्शन है। निश्चय-दृष्टि की उपेक्षा करने पर जीवन का लक्ष्य प्राप्त नहीं होता और व्यवहार-दृष्टि को त्याग देने पर जीवन में माधुर्य नहीं आ पाता। अनेकांत विचार से सोचें तो इन दोनों ही दृष्टियों को बहुमान दिया जाना चाहिए। संतुलित जीवन-शैली के लिए इन दोनों ही दृष्टियों की उपादेयता निर्विवाद है।

मनुष्य का जीवन संबंधों की आधारशिला पर अवलंबित है। सेवा, सहयोग और सापेक्षता उसकी सफलता के आधारभूत घटक हैं। जैन सूक्त 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' इस सचाई का प्रमाण है। जीवनपर्यंत संबंधमय जीवन जीना मानव-जीवन की नियति कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होगा। सर्वथा संबंधातीत जीवन की परिकल्पना देहधारी के लिए संभव नहीं है। समाज को छोड़ देने वाला साधु भी संघबद्ध जीवन जीता है। सर्वज्ञ और तीर्थंकर भी संघयुक्त और संघनिष्ठ जीवन जीते हैं, फिर संबंधातीत जीवन कहां है? संबंध मानव-जीवन की अनिवार्यता है और संबंधों में माधुर्य मानव-जीवन की उपादेयता है। विनम्रता, कृतज्ञता, सहिष्णुता, सरलता, उदारता और निर्मलता जैसे मानवीय गुणों के उदय से जीवन में मधुरता का विकास होता है। संबंधों की मधुरता सुखदाई और कर्म-बंध-निवारण में हेतुभूत बन जाती है। महामना आचार्यश्री भिक्षु ने कटु संबंधों के परिपाक का चित्रण एक कथानक के माध्यम से किया है जो अत्यंत ही मार्मिक है।

बसंतपुर नगर में धनपति नामक सेठ रहता था। उसकी पत्नी का नाम भद्रा था। उनके दो गुणसंपन्न और प्रख्यात पुत्र थे—धनदत्त और धनमित्र। घर में प्रचुर धन था। दिन-प्रतिदिन धन की अतिशय वृद्धि भी हो रही थी। समाज में अच्छी प्रतिष्ठा थी। दोनों पुत्र विवाहित थे, इस प्रकार घर में कुल छः सदस्य थे। सास के मन में छोटी बहू के प्रति अगाध प्रेम था, किंतु बड़ी बहू का कोई मूल्य और मान नहीं था। निश्चय-दृष्टि से तो इसे अपना-अपना शुभाशुभ कर्म ही मानना चाहिए। आगम-वाणी द्वारा उद्घोषित—'पत्तेयं पुण्णपावं'—सूत्र इस सचाई का आधार है। हर व्यक्ति के अपने कर्म ही सुख-दुख के लिए दाई होते हैं। पर, इस सत्य को आत्मसात करना सहज नहीं है।

सास के मन में छोटी बहू के प्रति रागानुबंध था और बड़ी बहू के प्रति द्वेषानुबंध। मन में फर्क होने से व्यवहार में भी अंतर आ जाता। खान, पान, पहनावा आदि सभी प्रवृत्तियों में छोटी बहू का बहुमान और बड़ी बहू के प्रति उपेक्षा का भाव रहता। घर के काम-काज का भार भी बड़ी बहू पर ज्यादा रहता। घर में मनोज्ञ वस्तु निष्पन्न होने पर बड़ी बहू को नहीं दी जाती, जबकि छोटी बहू को प्रच्छन्न और प्रकट, दोनों रूपों में खूब दी जाती थी। घर के इस पक्षपातपूर्ण माहौल से बड़ी बहू का मन अंदर-ही-अंदर धुकता रहता और वह निरंतर क्लेश का अनुभव करती। इस मानसिक पीड़ा की निमित्त एकमात्र सास थी और इस कलहपूर्ण वातावरण से घर की प्रतिष्ठा दांवं पर लगी हुई थी।

सास लोभात्मा भी थी। उसके जीवन में राग-द्वेष का बाहुल्य था। उत्तम सीख देने वाले के साथ भी वह लड़ने से नहीं चूकती थी। लड़ने के लिए सदा समुद्यत रहती। घर की ममता अधिक होने से सदा घर में ही रहती। किसी का उसे विश्वास न था। धर्म के प्रति द्वेष और अशुभ धारणाएं भी उसके मन में निरंतर बने रहते। परोपकार का उसके मन में लेशमात्र भी कोई भाव नहीं रहता। वह कभी सुपात्र को भी दान नहीं दे सकी। देने वालों के लिए बाधक भी बन जाती थी। घर में जैसे सुपात्र-दान के लिए भी निषेधाज्ञा-सी ही थी। अभिमान भी मन में बहुत था। हां, कुपात्रदान में अग्रणी थी। राग-द्वेषवश सम्यक् चिंतन का उसमें अभाव ही था। साधु और धर्म, दोनों ही उसे अभीष्ट नहीं थे। स्वयं की प्रशंसा और साधुओं की निंदा से भी नहीं चूकती थी। मोक्षाराधना के चार स्तंभ—दान, शील, तप और भावना के गुणों से वह सर्वथा रहित थी। बड़ी बहू के प्रति उसके मन में अत्यधिक द्वेष था, तो उसे मनोनुकूल वस्तु के उपभोग-परिभोग में निरंतर अंतराय देती रहती। न उसे अच्छा खाने देती और न उसे स्वाभिमान-सम्मानपूर्वक रखती, न अलग घर बसा कर उसके रहने की कभी सोचती। सास के इस अप्रीतिकारी व्यवहार से तंग आकर बड़ी बहू सब सुख होते हुए भी दुखियारी बन गई। उसके मन में भी सास के प्रति द्वेष पैदा होता गया। वह भी सास की घात चाहने लगी और यहां तक सोचने लगी कि इसके मरने से ही इस घर में मुझे सुख मिलेगा। इसके जीवित रहते मुझे तिलभर भी सुख नहीं मिलेगा। दुर्भावना से ग्रस्त बहू सास को नित्य श्राप देने लगी। सोचती कि इसी के कारण मुझे ये दुर्दिन देखने पड़ रहे हैं, पूर्वसंचित कर्म उदय में आए हैं। इस तरह सास और बहू, दोनों ही विषमतापूर्ण वातावरण में जीने लगीं। कलह का जीवन जैसे अभिन्न बनता चला गया।

सास का इतना कठोर नियंत्रण था तो देवरानी भी कम न थी। एक दिन की बात कि बड़ी बहू का दूध पीने का मन हुआ। बड़ी बहू को दूध, दही, घी, मक्खन आदि कुछ भी सुलभ नहीं था। उसने छिपकर दूध पी लिया। संयोग कि देवरानी ने दूध पीते हुए देख लिया और उसने तत्काल सास के पास जाकर चुगली खाई। इस घटना से सास सुलग पड़ी। आंखों में लाल डोरे उभर आए। बहू के पास आई, बहुत लड़ाई की। बहू को निर्लज्जा कहते हुए खूब फटकार लगाई। उसके पितृ-पक्ष पर भी लांछन लगाया। उसके इस दोष को बढ़ा-चढ़ा कर कहा गया। सास के निर्मम वचनों ने बहू को भीतर तक भेद दिया। वह भी आवेश में आ गई। उसने डटकर सास का मुकाबला किया। बहू ने कड़े शब्दों का प्रयोग किया। दोनों ही विकराल बन गईं। प्रचंड वाक्-युद्ध हुआ। सास ने अपना आपा खो डाला, तो बहू ने सास का मान-भंग कर डाला। आखिर बहू के मन में अनुताप तो होना ही था। सुसंस्कारों के अभाव में बहू ने 'खमत-खामणा' का मार्ग न चुन आत्महत्या का मार्ग चुन लिया। गले में फंदा डालकर बहू ने जीवन समाप्त कर लिया। क्रोधावेश में आत्मघात कर मरी बहू उसी घर में सांप बन गई। एक दिन देवर को काटकर देवरानी को विधवा बना दिया। थोड़े दिनों बाद सांप ने देवरानी को भी काट खाया और सास को अत्यधिक दुखी बना दिया। यह सब सास की अपनी करतूतों का ही फल था। सास ने अपने कर्मों का फल साक्षात देख लिया। एक दिन उस सांप ने सास को भी

काट खाया और उसका भी देहावसान हो गया। क्रोध और आर्त-ध्यान के परिणामों में मरकर सास चील बन गई। ज्यों ही चील ने सांप को देखा तो उसके मन में संचित द्वेष का संस्कार जाग उठा। उसने उसकी पूंछ पकड़कर उसे शिला पर बार-बार पटका और मारकर उसे खा गई। सांप मरकर बिल्ली बन गई और नित्य चूहों का भक्षण करने लगी। अवसर पाकर बिल्ली ने उस चील पर भी झपट लगाई और उसे मारकर खा गई। सास, जो चील थी, वह मरकर कुतिया बन गई और उसने उस बिल्ली की घात कर दी। इस हिंसा के पाप से कुतिया मरकर पहली नरक में चली गई। बहू, जो बिल्ली थी, वह भी क्रोधावेश में मरकर पहली नरक में चली गई और सास के समीप ही उसे ठौर मिली। वहां भी पूर्व वैर की वजह से परस्पर बहुत द्वेष-भाव जागा तथा परस्पर उदीरित वेदना के साथ एक सागरोपम तक अनंत दुख भोगा।

महामना आचार्यश्री भिक्षु के शब्दों में—जिस घर में राग-द्वेष की अभिवृद्धि होती है, निस्संदेह उस घर में अनिष्ट की संभावना रहती है।

घर में केवल दो ही सदस्य रहे—सेठ धनपति और पुत्र धनमित्र। वे बहुत चिंतातुर बन गए। घर में इस तरह सदस्यों का विरह उनके लिए असह्य हो गया। दुख के इन क्षणों में नगर में केवलज्ञानी के शुभागमन से पिता और पुत्र को अपार हर्ष का अनुभव हुआ। उन्होंने दर्शन कर इच्छा प्रकट की—महामुने! हमारे घर के तीन सदस्यों को सांप खा गया, इसका क्या रहस्य है? केवलज्ञानी ने सास-बहू का संपूर्ण घटनाचक्र उनके समक्ष प्रस्तुत कर दिया। आपसी वैर से उनकी अकाल मृत्यु का रहस्योद्घाटन कर उन्हें धर्मोपदेश दिया। उन्हें गृहस्थी सचमुच बहुत अप्रिय लगने लगी। धन-संपदा को छोड़कर वे साधु बन गए। चिरकाल तक संयम की आराधना कर वे प्रथम देवलोक में उत्पन्न हुए और विपुल ऋद्धि को प्राप्त किया। वहां से च्यवन कर पुनः मनुष्य बनकर चारित्ररत्न स्वीकार किया और आराधक पद प्राप्त कर अच्युत नामक देवलोक में गए। वहां से च्यवन कर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न हुए और उत्कृष्ट संयमाराधना कर मोक्ष को प्राप्त हुए।

उधर सास-बहू ने सातों नरकों में जाकर अनंत दुखों का अनुभव किया तथा परस्पर घात करती रहीं। तिर्यंच योनि में अनेक बार उत्पन्न हुईं और आखिर निगोद के गर्त में गिर गईं। राग-द्वेष के इन दुष्परिणामों को जानकर उनसे विरत हों, यही श्रेयस्कर है। आचार्य भिक्षु ने इस संदर्भ में शिक्षामृत देते हुए लिखा—

जिण घर में राग-द्वेष ऊपजे रे,
तिणसूं आछो कदेय म जाण।
अजस अकीर्ति हुवे अति घणी रे,
अनेक वस्तु नी हाण।। ❖

ज्ञान के कई रूप होते हैं और यह कई स्थानों पर उपलब्ध होता है। इसे शिक्षा, सूचना, बुद्धिमानी तथा अनुभव के जरिए प्राप्त किया जा सकता है। यह शैक्षिक संस्थानों में अध्यापकों के पास, पुस्तकालयों में, शोध-पत्रों में, गोष्ठियों तथा विभिन्न संगठनों में और कार्यस्थलों में कर्मियों, प्रबंधकों, ड्राइंग, प्रक्रिया दस्तावेजों और यहां तक कि दुकानों तक में होता है। हालांकि ज्ञान का शिक्षा से करीबी नाता है, लेकिन यह कलाकारों, दस्तकारों, हकीमों, वैद्यों, दार्शनिकों और संतों तथा यहां तक कि हमारी गृहिणियों के पास मौजूद कौशलों से भी प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञान इन सभी के प्रदर्शन तथा कार्य-उत्पादन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। हमारी विरासत और इतिहास, कर्मकांड, महाकांड और वे परंपराएं, जो हमारी चेतना का हिस्सा हैं, ये सब दरअसल, पुस्तकालयों तथा विश्वविद्यालयों की ही तरह ज्ञान के विशाल स्रोत हैं, हमारे गांवों में गैर-पुरातनपंथी और दुनियावी समझदारों की भरमार है। हमारे वातावरण में, महासागरों में, जैव-संरक्षण और रेगिस्तानों में तथा पेड़-पौधों और पशु-जीवन तक में ज्ञान-भंडार छिपे हैं। हमारे देश के हर राज्य में ज्ञानवान् समाज के लिए उसकी अपनी अनूठी और अद्भुत क्षमता मौजूद है।

— ए.पी.जे. अब्दुल कलाम

जीवन-यात्रा के पड़ाव

समणी अमितप्रज्ञा

सशक्त संकल्पशक्ति हो और अखंड-अविरल प्रयत्न हो, तो दुनिया की कौन-सी ऐसी ताकत है कि जो पथ का रोड़ा बन सके? कौन-सी ऐसी शक्ति है कि जो गतिशील चरणों को रोक सके?
जीवन एक समरांगण है। समरांगण में शक्ति एवं सामर्थ्य का सर्वोपरि मूल्य होता है। इसी तरह यह जीवन एक यात्रा भी है। इस यात्रा के अनेक सोपान हैं। सोपानों के आधार पर मंजिल की पहचान होती है। तलहटी की ओर ले जाने वाली सीढ़ियां कभी शिखर का स्पर्श नहीं दे सकतीं। शिखर के स्पर्श के लिए ऊंचाई की ओर ले जाने वाली सीढ़ियां ही चाहिए।

यह जीवन घुमावदार मोड़ लेती हुई ऊबड़-खाबड़ पगडंडी है। अविरल बहती हुई इस जीवन-यात्रा में किस मोड़ पर किससे भेंट हो जाए, कुछ नहीं कहा जा सकता। मनुष्य, जो कि सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहलाता है, जीवन उसे इच्छानुसार घुमाता है। जीवन की संपूर्ण बागडोर जिसके हाथ में है, वही अदृश्य शक्ति मनुष्य को पराधीन बनाए हुए है। स्वयं अपने भाग्य की लिपि लिखने वाला मनुष्य भी परतंत्र है। किसके अधीन है, यह तो कहना मुश्किल है, पर किसी-न-किसी के अधीन अवश्य है। क्या विचारों के अधीन है? मोह के अधीन है? हां! विचारों का वर्तुल जब भीतर प्रचंड रूप धारण करता है, तब मन रूपी बंदर उछलकूद करने लगता है और अंतस् में मोह का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। तब शारीरिक बल, बुद्धिबल, आत्मबल, सब-कुछ कुंठित हो जाते हैं। कहते हैं कि महाभारत का महायोद्धा, महावीर्य अर्जुन जब गांडीव उठाता तो इंद्र का आसन भी हिलने लगता, उसी के लिए महर्षि व्यास लिखते हैं—उसी महावीर्यवान अर्जुन के हाथ से गांडीव फिसलने लगा, शरीर में दाह पैदा हो गई। रोंगटे खड़े हो गए, आंखों में आंसू छलक आए। जिस पर गुरु द्रोण को नाज था, उस महाशक्तिशाली योद्धा को भी मोह ने नत कर दिया, कायर बना दिया।

कायरता के उन क्षणों में अर्जुन-रथ के सारथि त्रिखंडाधिपति वासुदेव श्रीकृष्ण के मुख से तब ये शब्द निःसृत हुए—

क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ, नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं, त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।।

तभी कौन्तेय के भीतर परम उत्साह प्रवाहित हो सका और परम-पौरुष के साथ वह समरांगण में कूद पड़ा।

सशक्त संकल्पशक्ति हो और अखंड-अविरल प्रयत्न हो, तो दुनिया की कौन-सी ऐसी ताकत है कि जो पथ का रोड़ा बन सके? कौन-सी ऐसी शक्ति है कि जो गतिशील चरणों को रोक सके?

जीवन एक समरांगण है। समरांगण में शक्ति एवं सामर्थ्य का सर्वोपरि

मूल्य होता है। इसी तरह यह जीवन एक यात्रा भी है। इस यात्रा के अनेक सोपान हैं। सोपानों के आधार पर मंजिल की पहचान होती है। तलहटी की ओर ले जाने वाली सीढ़ियां कभी शिखर का स्पर्श नहीं दे सकतीं। शिखर के स्पर्श के लिए ऊंचाई की ओर ले जाने वाली सीढ़ियां ही चाहिए।

इस जगत में मानव का अस्तित्व क्यों है? क्या जीने के लिए ही? नहीं, तो क्या मन का आनंद प्राप्त करने के लिए? नहीं। यह जीवन अखंड आनंद प्राप्त करने के लिए है। जीवन का शीर्षस्थ लक्ष्य है—वास्तविक यात्रा द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति। वास्तविक यात्रा क्या है? उस यात्रा के शिखर तक कैसे पहुंचा जा सकता है? हम विश्व में क्यों आए हैं? शिखर-सोपानों के ये प्रश्न चिरकाल से मानव-मन को मथते रहे हैं।

प्रथम जैन आगम भगवती सूत्र में इस प्रश्न को समाहित करते हुए कहा गया है—

जं मे तव-नियम-संजम-सज्झाय-झाणा।
वस्सगमादीएसु जोएसु जयणा से तं जत्ता।।

तप, नियम, संयम, स्वाध्याय, ध्यान, आवश्यक आदि योगों में जो विवेकयुक्त प्रवृत्ति है, वही मेरी वास्तविक यात्रा है।

जन्म-मरण के चक्र में गोता लगाते-लगाते इस वास्तविक यात्रा के लिए महान पराक्रम, अद्भुत शौर्य चाहिए। मनुष्य जीवन की प्राप्ति ही इस वास्तविक यात्रा की मजबूत नींव है। जिस दिशा में चले हैं तो मंजिल तक पहुंचकर ही विश्राम लें—इस दृढ़ संकल्प के साथ यदि यात्रा शुरू हो तो सफलता निश्चित रूप से मिलेगी ही। जीवन-रूपी इस समरांगण में जीवनरथ का सारथि यदि श्रीकृष्ण-रूपी दृढ़ संकल्प है, तो उस आत्मा-रूपी अर्जुन की विजय निश्चित है। यदि भूलकर भी शल्य को सारथि बना लिया तो सूर्यपुत्र कर्ण की तरह मुंह की खानी पड़ेगी। शल्य का अर्थ शंका है। संशयात्मा को नष्ट होना ही होता है। शेक्सपियर का कथन है—'हमारी शंकाएं हमारे साथ विश्वासघात करती हैं और हमें उन अच्छाइयों से वंचित रखती हैं, जिन्हें हम किंचित प्रयास से पा जाते।' अतः जिंदगी में संदेह के रास्ते भूलकर भी न जाएं। वह मृत्यु से भी अधिक भयानक एवं निर्दय है। हमारी जीवन-यात्रा वहां डगमगा जाएगी, भटक जाएगी।

चार-गति रूप जन्म-मरण की यात्राएं हमने बहुत की हैं। अब हमारी मंजिल है—मोक्ष। बंधन से मुक्ति की ओर प्रयाण। जन्म-मृत्यु के चक्र-निवारण के संबंध में अब हमारी कल्पनाएं कुछ और होंगी। हमें स्वयं के कर्तृत्व पर अवलंबित होना होगा। नींव का पत्थर स्वयं बनना होगा। आस्था, एकाग्रता एवं आत्मसमर्पण की भावभूमि पर खड़े होकर उस दिशा में बढ़ने के लिए पांवों को मजबूत बनाना पड़ेगा।

स्वयं को ऊर्जाशील बनाने का सूत्र है—तप। उपवास करना, एक समय भोजन करना, भूख से कम खाना, गरिष्ठ भोजन नहीं खाना, इंद्रिय एवं मन पर नियंत्रण करना—ये इसके विविध शस्त्र हैं। द्वैपायन ऋषि के शाप से अभिशप्त द्वारिका नगरी को तपोबल के सहारे ही अभयदान मिला था। बारह वर्ष पश्चात् तप की विस्मृति के कारण कोपाविष्ट ऋषि को उसे भस्मीभूत करने का अवसर मिला।

दशवैकालिक की जिनदासचूर्णि में तप को परिभाषित करते हुए कहा गया—'तवो णाम तावयति अट्ठविहं कम्मगंठि, नासेतित्ति वुत्तं भवइ'—जो आठ प्रकार की कर्मग्रंथियों को तपाता है, उन्हें नष्ट करता है—वह तप है। ज्ञान का आवरण, दर्शन का आवरण एवं मोह का आवरण—ये कर्मग्रंथियां ही व्यक्ति को पथच्युत करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। अहंकार और ममकार जीवन-यात्रा को अंधकारमय बना देते हैं। कर्मशास्त्रीय दृष्टि से मोहनीय कर्म के उदय से मोह का साम्राज्य फैलता है। तप में इन सशक्त कर्मरजों को भी कंपाने की क्षमता है। कर्मफल विशोधन की यही प्रक्रिया है। उपाध्याय विनयविजयजी कहते हैं—

निकाचितानामपि कर्मणां यद्, गरीयसां भूधरदुर्धराणाम्।
विभेदने वज्रमिवातितीव्रं, नमोस्तु तस्मै तपसेऽद्भुताय।।

जो गुरुतर तथा पर्वतों की भांति दुर्धर निकाचित कर्मों को भी अतिशीघ्रता से वज्र की भांति तोड़ देता है, उस अद्भुत तप को मैं नमस्कार करता हूं। ऐसा समर्थ तप ही मंजिल को निकट ला सकता है।

जीवन-यात्रा का एक पड़ाव है—संयम। कर्म-आगमन के पांच द्वार—हिंसा, मृषा, अदत्त, मैथुन एवं परिग्रह से विरति, कषायविजय, इंद्रियनिग्रह—ये सब संयम में अंतर्निहित हैं। आत्म-नियंत्रण संयम है। इसके अभाव में उत्पन्न समस्याओं का विकराल रूप देख ऐसा लगता है कि शायद कुछ ही समय में विश्व विनाश के कगार पर खड़ा हो

जाएगा। तुलसीदास को कहे रत्नावली के कथन से यदि तुलसीवत् अंतरात्मा जाग जाए, तो संभवतः यात्रा दूसरा ही भव्य रूप धारण कर ले।

यात्रा का अगला पड़ाव स्वाध्याय, ध्यान एवं जीवन में करणीय योगों में विवेकयुक्त प्रवृत्ति है। स्वाध्याय, ध्यानादि जीवन के वे दर्पण हैं जिनमें मनुष्य अपने को परख सकता है। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व और कर्तृत्व को परख सकता है। ये पड़ाव आह्वान करते हैं कि आप हमारी शरण में आए हैं तो हम जन्म-जन्म की यात्रा को विराम देकर आपके लिए शाश्वत नीड़ का निर्माण कर देंगे। ये पड़ाव जीवन को परिपूर्णता में जीने का प्रयास है। इन पड़ावों की स्वाभाविक विशेषता है—आत्म-स्वरूप की प्राप्ति। हाथ पर हाथ धरे बैठे रहोगे, तो कुछ नहीं होगा।

इस सफर के दौरान अजेय कहलाने वाले अहंकारी मन से गहरा विरोध होगा, निषेधात्मक भावों से तीव्र विरोध होगा। प्रतिकूलताएं यात्रा की कसौटियां होंगी। संघर्ष आ सकते हैं। विचारों के अश्व मन के प्रांगण पर दौड़ेंगे, खेलेंगे, नाच-कूद करेंगे, गुनगुनाएंगे। ये भाव विभिन्न रूप धारण कर जीवन के पीछे लगे रहेंगे। इनके चक्रव्यूह में फंस गए तो फिर निकलना मुश्किल है। फिर आपकी यह यात्रा आपको ही भीषण दुख देगी। भोगवाद के इस तुमुलनाद में संयम, तप आदि शस्त्र ही कारगर सिद्ध हो सकते हैं।

शाश्वत नीड़-निर्माण का बीड़ा उठाने वाले प्रतिकूल परिस्थितियों में कभी निष्प्रभ नहीं होते। अज्ञानी और प्रवाहशाली लोगों का अनुकरण नहीं करते। वे संकटों के सिर पर पैर रख, उनके अस्तित्व को चिरनिद्रा में सुला देते हैं।

हर रचनात्मक और सार्थक आंदोलन को तीन तरह की प्रतिक्रियाओं से गुजरना पड़ता है—

1. लोग उपहास करते हैं, 2. लोग विरोध करते हैं, 3. और अंत में लोग उसे स्वीकार कर लेते हैं।

हो सकता है आपकी जीवन-यात्रा का उपहास हो, विरोध हो। सामर्थ्य और यश को मापने की भाग्य ही कोई कसौटी नहीं है। जिस उद्देश्य के लिए यह विकट एवं कठिन यात्रा प्रारंभ की गई है, उसके लिए हमारी भीष्मप्रतिज्ञा हो—यात्रा से जब तक सार्थकता सिद्ध न होगी तब तक मार्ग पर डटे रहेंगे। आपका अंतःकरण और अंततः आपके साथी अपने-आप कहेंगे—यह यात्रा ही सर्वश्रेष्ठ यात्रा है। इसका आनंद ही सर्वश्रेष्ठ आनंद है। हर कली खिलते हुए मुस्कराती है। किसी विरल गरिमा की कली ही होगी जो मुर्झाते समय भी मुस्कराती रहे—

मृत्युशय्या पर पड़े अति रुग्ण की अंतिम हंसी-सी
यत्न करके खिल रही है एक लघु कलिका निराली।

कविवर जयशंकरप्रसाद की इन पंक्तियों को सार्थकता मिलेगी—

इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत भवन में टिक रहना।
किंतु पहुंचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं।। ❖

संसार में आज जितना वैषम्य दिखाई देता है, उसका मुख्य कारण द्वैत की भावना है। हम अपने सुख को, अपने दुख को, देखते हैं, दूसरे के सुख-दुख को नहीं। इसी से विषमता उत्पन्न होती है। इस विषमता को मिटाने के लिए संतों के अनगिनत दृष्टांत मिलते हैं। महाराष्ट्र के संत नामदेव की माता के शरीर में एक फोड़ा हो गया। उन्होंने अपने बेटे से किसी पेड़ की छाल ले आने को कहा। वह उसे घिसकर उसका लेप फोड़े पर लगाना चाहती थीं। नामदेव चाकू लेकर गए और पेड़ की छाल काट कर ले आए। रास्ते में अचानक उनको विचार आया कि पेड़ में भी तो जान होती है। मैंने जब उसकी छाल उतारी तो उसे पीड़ा हुई होगी। उसका स्मरण करके उनका बदन कांप उठा। उस पीड़ा की अनुभूति करने के लिए उन्होंने चाकू से अपने पैर की थोड़ी-सी खाल काट दी। खून बहने लगा। उनकी धोती खून में भीग गई। मां ने यह देखा तो व्यथित होकर पुत्र से पूछा, 'यह क्या हुआ?' नामदेव ने सारी बात साफ-साफ कर दी। सुनकर मां ने बेटे को सीने से लगा लिया।

—यशपाल जैन

नदी तट पर

हरमन हैस

यही कारण था कि उसे संसार में प्रवृत्त होना पड़ा, अपने स्व को शक्ति, स्त्री और संपत्ति में विभोर कर देना पड़ा, यही कारण था कि वह व्यापारी बना, जुआरी बना, एक मद्यपी और धनिक बनते रहने पर बाध्य हुआ, जब तक कि उपासक और श्रमण का अवसान न हो गया। यही कारण था कि उसे वह द्वंद्वपूर्ण समय व्यतीत करना पड़ा, ग्लानि सहनी पड़ी, और उसे एक अंतहीन, निरर्थक और रिक्त जीवन के उन्माद का पाठ पढ़ना पड़ा, ताकि वह एक तिक्त निराशा के छोर तक पहुंच जाए, ताकि आमोद-प्रमोद के पीछे दौड़ने वाला सिद्धार्थ और ऐश्वर्य में खो जाने वाला सिद्धार्थ मर सके। वह मर चुका था और उस नींद के बाद एक नया सिद्धार्थ जाग उठा था। वह भी एक दिन आयु को प्राप्त होगा और मर जाएगा। सिद्धार्थ भी अनित्य है, सभी रूप अनित्य हैं, लेकिन आज वह तरुण है, शिशु है यह नवीन सिद्धार्थ—और वह आज अत्यंत सुखी है।

पिछले अंक का शेषांश

सिद्धार्थ मुस्कराता हुआ उसे देखता रहा। वह उसे अब भी प्यार करता था, वह कितना विश्वसनीय और भावुक है। और उन क्षणों में, उस शानदार समय में, उस आश्चर्यजनक नींद लेने के बाद जिसमें ओउम् का आविर्भाव हो चुका था, यह किस प्रकार संभव था कि वह किसी को, किसी वस्तु को बिना प्यार किए रह जाता। यही तो वह जादू था जो निद्रावस्था में उस पर चल चुका था और अब उसके घट में ओउम् परिव्याप्त था। वह हर वस्तु को प्यार करता था। जो-कुछ भी दृष्टिगोचर होता था वह सभी-कुछ उसके आनंदयुक्त प्रेम का पात्र था और अब उसे यह स्पष्ट होता जा रहा था कि पहले वह रुग्ण क्यों था—क्योंकि वह किसी भी वस्तु अथवा व्यक्ति को प्यार नहीं कर सकता था।

एक मुस्कान के साथ सिद्धार्थ उस विदा होते हुए भिक्षु को देख रहा था। उसकी नींद ने उसको शक्ति प्रदान की थी, किंतु वह अत्यंत तीव्र भूख से व्याकुल होता जा रहा था क्योंकि दो दिन से उसने बिलकुल ही भोजन नहीं किया था और भूख को दूर रख सकने का समय अब समाप्त हो चुका था। व्याकुलता सहित, किंतु फिर भी हंसते हुए, उसने अपने वे क्षण याद किए जब उसने कमला से तीन भद्र कलाओं पर अधिकार होने की शेखी बघारी थी। उपवास, प्रतीक्षा और चिंतन—यही उसकी संपत्ति थे, उसकी शक्ति और बल थे, उसके दृढ़ मेरुदंड थे। अपने यौवन-काल में अत्यंत श्रम और साधना करके उसने दो-तीन कलाएं सीखी थीं। और उनके स्थान पर उसने अनेक कुत्सित गुणों को अपने अंतर में सन्निहित कर लिया था, जो अत्यंत अस्थाई था, उसने इंद्रिय-सुख उच्च जीवन और धन-संपत्ति की लिप्सा को अंगीकार किया था, उसने एक विचित्र पथ पर यात्रा आरंभ की थी, और अब उसे लगता था कि वस्तुतः वह एक साधारण आदमी रह गया है।

सिद्धार्थ ने अपनी स्थिति पर विचार किया। उसने विचार करना कठिन पाया, तथापि उसने बलपूर्वक अपने को प्रवृत्त किया।

अब, उसने सोचा, जब कि समस्त अस्थाई के वस्तुएं मुझ से दूर चली

गई हैं, मैं फिर से एक बार सूर्य के नीचे उसी प्रकार खड़ा हूं, जिस प्रकार मैं बाल्यावस्था में अनुभव करता था। मेरा कुछ भी नहीं है, मैं कुछ भी नहीं जानता, मेरा कोई स्वत्व नहीं, मैंने आज तक कुछ भी नहीं जाना। यह सब कितना विचित्र है! अब, जब कि मैं युवक नहीं रह गया हूं, मेरे बाल श्वेत होते जा रहे हैं, शक्ति का ह्रास हो रहा है, मैं फिर से एक बालक की तरह जीवन आरंभ कर रहा हूं। बरबस उसके मुख पर मुस्कान खिल गई। हां, उसका भवितव्य एक विचित्र वस्तु है! वह पीछे लौट रहा है। अब वह फिर रिक्त-नग्न और अज्ञानी के समान खड़ा रह गया है, किंतु उसे इस स्थिति पर खेद नहीं था। नहीं, उसके मन में होता था कि वह अट्टहास करे, अपने ऊपर अट्टहास करे और इस अविवेकी संसार के ऊपर अट्टहास करे।

तुम्हारे साथ तुम्हारा अतीत फिर उभरता आ रहा है—उसने सोचा और वह हंस पड़ा। और ज्यों ही वह यह सब कह रहा था, उसकी दृष्टि नदी के अंचल पर पड़ गई, उसने सोचा कि नदी भी निरंतर पीछे की ओर बह रही है, और मस्ती के साथ गा रही है। यह देखकर उसे महान हर्ष हुआ और वह उत्फुल्लता के साथ नदी की ओर मुस्कराने लगा। क्या यह वही नदी नहीं है, जिसमें एक दिन वह अपने को डुबो देना चाहता था, सैकड़ों वर्ष पहले की बात है—या उसे केवल वैसा स्वप्नमात्र आया था!

उसने सोचा, उसका जीवन कितना विचित्र है! यह विचित्र मार्गों पर भटकता रहा है। 'जब बालक था तो मैं देवताओं और यज्ञों के प्रभाव में था, युवक हुआ तो साधुओं की संगति में ध्यान और समाधि लगाने लगा। मैं ब्रह्म की खोज में था और आत्मा में अनंत की उपासना करता था। युवावस्था में मैं आत्म-शुद्धि की ओर आकर्षित हुआ। मैं जंगलों में रहा, आतप और शीत को सहन किया। मैंने उपवास करना सीखा और अपने ऊपर विजय प्राप्त करनी सीखी। तब मैंने आश्चर्यपूर्वक महान गौतम बुद्ध के उपदेशों का ज्ञान प्राप्त किया। मैंने ज्ञान को अनुभव किया और संसार की एकता को अपने रक्त के समान ही अपने में चक्रित होते देखा। परंतु मैंने बुद्ध और उसके महान ज्ञान को भी तिलांजलि देने पर अपने को बाध्य पाया। मैं कमला और कामस्वामी के पास गया और एक से प्रेम का सुख प्राप्त करना और दूसरे से व्यापार करना सीखा। मैंने धन संग्रह किया और उसे पानी की तरह बहा दिया, मैंने भोजन में स्वाद ग्रहण करना सीखा और अपनी इंद्रियों को उत्तेजित करना भी सीखा। अपनी समझ को खोने में मैंने इस प्रकार कई वर्ष व्यय किए, सोचने की शक्ति को नष्ट करने और तत्त्वों की आधारभूत एकता की बात को भूलने में कितने ही वर्ष लगा दिए। क्या यह सच नहीं है, कि शनैः-शनैः और विभिन्न प्रकार से मैं एक आदमी से पुनः बालक बन गया? एक विचारक से एक सामान्य आदमी बन गया? तथापि यह मार्ग अच्छा ही रहा है और मेरे अंतर का पक्षी मरा नहीं, लेकिन यह मार्ग कैसा था? मुझे इतने गर्हित जीवन, इतनी कुटेवों, इतनी भूलों, इतनी ग्लानि, निराशा और शोक केवल इसलिए अनुभव करने पड़े कि मैं फिर से शिशु बन जाऊँ और पुनः जीवन आरंभ करूं। किंतु यह उचित ही है कि इसी प्रकार सब-कुछ घटित होता। मेरा हृदय उसे अंगीकार करता है। मुझे निराशा की अनुभूति प्राप्त करनी थी, मुझे मानस की अतल गहराइयों में भी अवगाहन करना था, आत्महत्या के विचार तक को भी मन में ले आना था ताकि मैं गरिमा को प्राप्त कर सकूं, ताकि मैं फिर ओउम् का नाद सुन सकूं, एक गहरी नींद में डूब सकूं और फिर से तरोताजा होकर जाग उठूं। अपने अंतर में आत्मन् की खोज करने के लिए मुझे निर्बुद्ध बनना ही था। मुझे एक बार पाप करना ही था ताकि मैं जीवन को प्राप्त कर सकूं। और अब आगे मेरा यह मार्ग मुझे कहां ले जाएगा? यह मार्ग बड़ा कुटिल है, वह घुमेर खाता चलता है, शायद गोल चक्कर ही लगाता है, किंतु यह किधर भी जाए, मैं इसका अनुगमन करूंगा।'

उसे अनुभव हो रहा था कि उसके अंतर में आनंद की एक भावना आकंठ भरती आ रही है।

यह कहां से आती है, उसने अपने-आप से पूछा? आनंद की अनुभूति की जड़ में कौन-सा रहस्य है। क्या यह आनंद मेरी सुदीर्घ निद्रा से प्राप्त हुआ है जिसने मुझे बहुत लाभ पहुंचाया है? या ओउम् के उच्चारण ने यह सब किया! या इसलिए कि मैं अतीत से पलायन कर चुका हूं, और मेरी दौड़ संपन्न हो चुकी है या इस कारण कि मैं पुनः स्वतंत्र हो गया हूं और एक शिशु की तरह आकाश के नीचे खड़ा हूं। आह, यह पलायन और निर्बंधता कितनी अच्छी बात है। उस जगह, जहां से मैं बचकर आ गया, वहां सर्वदा ही प्रसाधन, मसालों, अति और अकर्मण्यता का वातावरण था। मैं उस धन-संपत्ति, अतिशय मद्यपान और द्यूत-क्रीड़ा से कितनी घृणा करता था। मैं अपने-आप से कितनी घृणा करता था, अपने ऊपर कितना अत्याचार

करता था, विष-पान करता था और पीड़ाएं सहता था, मैंने अपने को बूढ़ा और भद्दा बना डाला। जीवन में फिर कभी यह विचार मन में नहीं लाऊंगा—जैसा कि मैं एक बार सोच चुका हूं—कि सिद्धार्थ बहुत चतुर है। लेकिन एक काम मैंने बहुत अच्छा किया है, जिससे मुझे प्रसन्नता होती है, जिसकी प्रशंसा होनी चाहिए कि मैंने अपने से घृणा करने की भावना पर विजय प्राप्त कर ली है, उस निर्बुद्धि, रिक्त जीवन से मैंने मुक्ति पा ली है। मैं तुम्हारी प्रशंसा करता हूं, सिद्धार्थ, कि इतने दिन गलत मार्ग पर रहकर भी तुम्हारे मन में यह फिर से एक शानदार विचार आ गया कि तुमने कोई सफलता प्राप्त कर ली है, कि तुमने अपने अंतर-प्रकोष्ठ में बैठे पक्षी का गायन फिर से सुना है और उसका अनुगमन किया है।

इस प्रकार उसने अपनी प्रशंसा की, अपने-आप पर प्रसन्न हुआ, उसने अपने उदर की ओर ध्यान दिया जो भूख के कारण गड़गड़ा रहा था। उसने अनुभव किया कि उस दुख और दुर्भाग्य का कुछ भाग, जो उस अतीत की देन था, उसने अच्छी तरह भोग लिया है, और निराशा और मृत्यु तक के रूप में उसके प्रतिफल भोगकर विसर्जित भी कर दिया है। लेकिन सब-कुछ ठीक ही था। वह और भी अधिक समय तक कामस्वामी के साथ रह सकता था, धनोपार्जन और अपव्यय दोनों कर सकता था, अपने शरीर का पोषण और आत्मा की उपेक्षा करता रह सकता था, अपने कोमल और प्रचुर सामग्री से युक्त नरकालय में बहुत दिनों तक निवास कर सकता था, यदि संपूर्ण निराशा और उदासी का भाव उस पर छा न गया होता, यदि उस क्षण की भावनाओं में जब वह जल के ऊपर वृक्ष से लिपटा हुआ और आत्महत्या करने पर सन्नद्ध था, इतनी घनता न आई होती। उदासी और आत्यन्तिक ग्लानि, जो उसने अनुभव की थी, कभी संपूर्णतः उसे अभिभूत न कर पाई थीं। उसके अंदर का पक्षी, वह स्पष्ट उत्स और ध्वनि अभी तक जीवित थे, यही कारण था कि वह इतना आनंदित था, यही कारण था कि वह अट्टहास कर रहा था, यही कारण था कि शुभ्र केशराशि से सुसज्जित उसके मुख-मंडल पर अब भी चमक थी।

प्रत्येक वस्तु को अपनी अनुभूति से जानना बहुत अच्छी बात है। जब मैं बालक था तो मैंने सीखा था कि संसार के भोग-विलास और धन-संपत्ति में कोई सार नहीं। कितने ही समय से मैं इस बात को जानता था, किंतु उसे अनुभव अभी ही किया है। आज मैं केवल बुद्धि से इस सत्य को नहीं जानता हूं, वरन नेत्रों द्वारा हृदय और उदर द्वारा इससे अवगत हुआ हूं। और यह अच्छी बात है कि मैं यह जानता हूं।

वह अपने अंतर के परिवर्तन पर देर तक विचार करता रहा, उसने पक्षी के गान को उल्लासपूर्वक सुना। अगर उसके अंतर में स्थित यह पक्षी मर जाता तो क्या वह समाप्त हो जाता? नहीं, उसके अंदर कुछ और मरता, वह वस्तु, जिसकी उसने चिरकाल से आकांक्षा की है, वह मर जाती। क्या यह वही वस्तु नहीं थी जिसके अस्तित्व की कामना उसने अपने साधु-जीवन में की थी? क्या वह उसका स्व नहीं था, वह क्षुद्र, भीरु और अहंमन्य स्व, जिसके साथ उसने इतने वर्षों तक युद्ध किया था, किंतु जिसने उसके ऊपर विजय प्राप्त कर ली थी, जो समय-समय पर उभार खाता रहा है और जिसने उसके सुख पर डाका डाला है और उसको भय से आक्रांत कर लिया है? क्या यही वह वस्तु नहीं थी जो आज वन में नदी-तट पर पूर्णावसान को प्राप्त हो चुकी है? क्या उसी की मृत्यु का यह शुभ परिणाम नहीं है कि वह पुनः एक शिशु के समान बन गया है, विश्वास और आनंद से परिपूर्ण और भय से सर्वथा विमुक्त?

सिद्धार्थ को अब यह भी अवगत हो गया था कि इस स्व पर विजय प्राप्त करने में अपनी ब्राह्मणावस्था और श्रमण जीवन में उसका संघर्ष सदैव ही असफल रहा है। अतिशय ज्ञान ने उसके मार्ग में बाधा उपस्थित की थी, अतिशय पवित्र उपासना-मंत्रों ने, अनेकानेक धार्मिक यज्ञकर्मों ने, इंद्रियों के आत्यंतिक दमन ने, आत्यंतिक क्रिया और प्रयत्न ने उसको सफल नहीं होने दिया था, उसका हृदय आत्माभिमान से सदैव परिपूर्ण रहा, वह सदैव ही एक पग अग्रसर, सदैव ही विद्वान अथवा बौद्धिक, सदैव ही उपासक अथवा महात्मा रहा है। उसकी याज्ञिकता में स्व का अखंड राज्य था। वह कसकर वहां बैठा था और बढ़ता जाता था, जबकि वह सोचता रहा कि उपवास और तपस्या से वह उसका परिहार कर रहा है। अब उसकी समझ में आ गया था और उसने अपनी अंतर्ध्वनि की सत्यता को अनुभव कर लिया था कि किसी भी शिक्षक की शिक्षा से मुक्ति का द्वार प्रशस्त नहीं हो सकता। यही कारण था कि उसे संसार में प्रवृत्त होना पड़ा, अपने स्व को शक्ति, स्त्री और संपत्ति में विभोर कर देना पड़ा, यही कारण था कि वह व्यापारी बना, जुआरी बना, एक मद्यपी और धनिक बनते रहने पर बाध्य हुआ, जब तक कि उपासक और श्रमण का अवसान न हो गया। यही कारण था कि उसे वह द्वंद्वपूर्ण समय व्यतीत करना पड़ा, ग्लानि सहनी पड़ी, और उसे एक अंतहीन, निरर्थक और रिक्त जीवन के उन्माद का पाठ

पढ़ना पड़ा, ताकि वह एक तिक्त निराशा के छोर तक पहुंच जाए, ताकि आमोद-प्रमोद के पीछे दौड़ने वाला सिद्धार्थ और ऐश्वर्य में खो जाने वाला सिद्धार्थ मर सके। वह मर चुका था और उस नींद के बाद एक नया सिद्धार्थ जाग उठा था। वह भी एक दिन आयु को प्राप्त होगा और मर जाएगा। सिद्धार्थ भी अनित्य है, सभी रूप अनित्य हैं, लेकिन आज वह तरुण है, शिशु है यह नवीन सिद्धार्थ—और वह आज अत्यंत सुखी है।

ये विचार उसके मन में आते रहे। एक मुस्कान के साथ वह अपने उदर की भाषा को सुनता रहा और कृतज्ञतापूर्वक एक मधुमक्षिका के गान को सुनता रहा। उसने आंतरिक सुख की भावना से प्रवाहित सरिता की ओर देखा। आज तक इस नदी के समान किसी दूसरी नदी ने इतना आकर्षित नहीं किया था। बहते हुए जल का स्वर और स्वरूप उसे आज तक इतना सुंदर कभी नहीं लगा था। उसे ऐसा लगा कि उसे नदी से कुछ सीखना है, जिसे वह आज तक जानता न था, ऐसा कुछ, जिसकी उपलब्धि उसे अभी करनी थी। सिद्धार्थ के मन में आया कि इस नदी में वह अपने को डूबो दे; और जर्जर, थकित और निराशायुक्त सिद्धार्थ वास्तव में इसमें डूब चुका था। नवीन सिद्धार्थ के मन में इस प्रवहमान जल के प्रति एक आंतरिक प्रेम-भावना जाग उठी थी और उसने यह निश्चय कर लिया था कि अब इतनी शीघ्रतापूर्वक वह उसका साहचर्य नहीं खो देगा। ❖

समाप्त

—अनुवाद : महावीर अधिकारी

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-कविताओं का स्वागत है, प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ-सुथरी, बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

समसामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी-
कविता भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति
रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

श्रीराम वर्मा की कविता

•

मणि-दंश

मणि मिलेगी, कहूं कैसे,
अंधेरे में
जानता हूं
और कसता जाएगा कैसा अंधेरा;
कसौटी-सा
जानता हूं
और कसता जाएगा कितना अंधेरा।

नमोमुद्रा में जुड़ेंगे हाथ
डंसते।
गहन में उन्नत भुजंगम वृक्ष
धंसते।
प्रलयमुद्रित पटकते फन तंत्र के तम
रौंद देंगे रू-ब-रू सब देह, सारा बोध, आस्था
जुआरी की
ज्यों अनाहत मैं बचूंगा,
किस कदर फिर
कहर ढाता
और कसता जाएगा कड़वा अंधेरा।

पवन में विष, सर्वदिक् विष, रक्त तक विष
फैला कर बहिरंतरों तक गुंजलक बन
तोड़ देगा अस्थियां तक, चेतनाएं
लुप्त होंगी। धुएं
होंगे नील-लोहित
हिम हतप्रभ धमनियों में पेंग भरता
घेरकर ब्रह्मांड तक स्वैरी कहां तक
और धंसता जाएगा गाढ़ा अंधेरा।

कामना मणि की बना देती रही है
व्यक्ति को मणि-सर्प
अब तक
छटपटाहट
भोगता मानव
घिसटता रपटता चलता रहा है
आज तक साकल्यवंचित
सर्वहारा।

और मणि डंसती हुई
कंपती हुई
फिर अंधेरे-से-अंधेरे तक
छोड़ती है धर्म ज्यों केंचुल अंधेरा

मणि मिले मत, रहे वह, आलोक हो, बस,
व्यक्ति हो सर्पत्ववंचित
खुली आंखों
मर्म तक देखे, अननुभव तक रहे, बस,
सहे, जाने, जानने दे, अननुभव तक,
अनुभवेतर एक निजी होता रहे, बस,
और हटता जाय हटता जाय हटता जाय
हटता जाय हंसता-सा अंधेरा।

मणि दिखेगी और दीखे
गा विचरता ममेतर तिर्यक् अंधेरा।
बीच में आलोक जीवित और मैं जीवंत
हेमप्रभ गुडाकेशी संपेरा।

मणि दिखेगी अंधेरे में और दीखे— ❖

शीलन

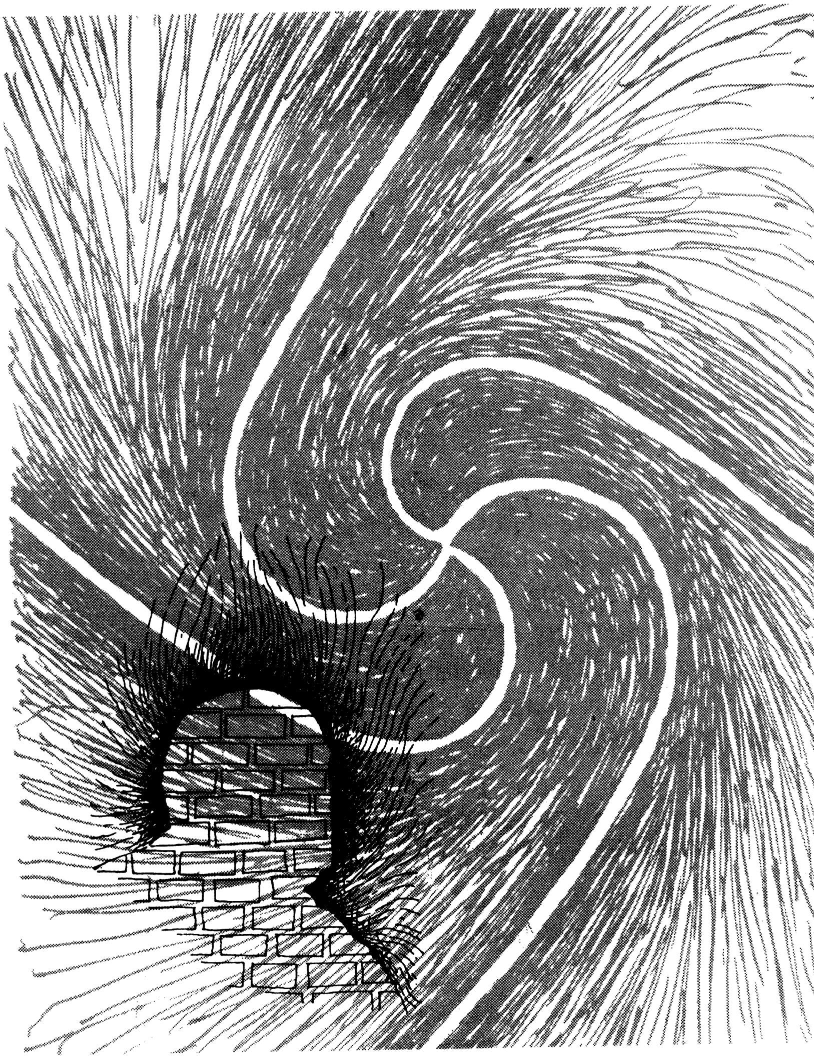

मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है, और कर्म ही मानवता का उन्नायक तत्त्व है, दायित्व भी! सोद्यमी मनुष्य का चिंतन और चरित्र मानवीय गुणों का प्रतिनिधित्व करने वाला ही नहीं, अपितु प्रसवन करने वाला अविरल स्रोत भी बन जाता है। स्वाभिमान-वर्द्धिनी होती हैं उसकी सब क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ; वह प्रतिष्ठा के मार्ग से ही लाभार्जन का प्रेमी और समर्थक होता है। अपने ही पुरुषार्थ से हस्तगत जय व लाभ के उपभोग में उसका जीवन मनुष्यत्व को सुशोभित करने वाला मान्य रहता है। यही मानवोचित स्वतन्त्रता और न्याय की सच्ची कसौटी है, यही सही मानवता है, यही पुरुषार्थ का प्राण-स्पंद है।

—डी.डी. हर्ष

आगम : एक अतींद्रिय विषय

डॉ. महावीरराज गैलड़ा

जैन परंपरा में मूलतः शास्त्र को प्रमाण नहीं माना गया। महावीर की यह एक नई क्रांति थी। उन्होंने उस व्यक्ति को ही प्रमाण माना जिसके ज्ञान में कोई व्यवधान नहीं है।
जैन आचार्यों ने आगमों की व्याख्याएं युग की आवश्यकतानुसार सदैव की हैं। दर्शन-युग में दर्शन के साथ संगति बैठाई। आज विज्ञान का युग है, अतः आगमों को आज नए संदर्भ में प्रस्तुत करना आवश्यक है। आगम को विज्ञान के संदर्भ में पढ़ना आवश्यक है। आगम और विज्ञान में कहां सामंजस्य है और कहां सामंजस्य नहीं है—इस ओर भी ध्यान केंद्रित करना है।

जैन साहित्य में आगम को प्राचीनतम माना गया है। आगम ही भगवान महावीर की वाणी है। महावीर वीतरागी थे और माना जाता है कि वीतरागी समग्र को जानते हैं, द्रव्य के त्रैकालिक व्यवहार को जानते हैं। समग्र को जानकर तीर्थ की स्थापना करने वाले तीर्थंकर कहलाते हैं। जैन परंपरा में चौबीसवें तीर्थंकर महावीर हुए हैं। वे इस अवसर्पिणी काल के अंतिम तीर्थंकर थे। उन्होंने सम्यक्-ज्ञान का निरूपण किया, जिसका संकलन आगमों में हुआ। आगम के दो विभाग हैं—(i) सूत्रागम, (ii) अर्थागम। महावीर के उपदेश को अर्थागम और इनके आधार पर की गई सूत्र रचना को सूत्रागम कहा जाता है।

आगम-अर्थ

व्युत्पति—आङ् उपसर्गपूर्वक भ्वादिगणीय गम्लृगतौ धातु से अच् प्रत्यय करने पर आगम शब्द निष्पन्न होता है। आङ् उपसर्गपूर्वक गम् धातु से करण अर्थ में घञ् प्रत्यय करने पर आगम शब्द बनता है। **आगम्यते प्राप्यतेऽनेन**—अर्थात् जिसके द्वारा प्राप्त किया जाए वह आगम है। आङ् उपसर्ग का प्रयोग मर्यादा और अभिविधि अर्थ में हुआ है। जिसकी परंपरा मर्यादापूर्वक चलती आ रही है या जो ज्ञान मर्यादापूर्वक प्राप्त किया जाता है—वह आगम है। आवश्यक निर्युक्तिकार ने लिखा है—**आङ् अभिविधि मर्यादार्थत्वात् अभिविधिना मर्यादया वा गमः परिच्छेद आगमः।**

आगम शब्द के अनेक अर्थ हैं। आचारांग सूत्र में जानने के अर्थ में आगम शब्द का प्रयोग हुआ है। जैन परंपरा में आगम के स्वरूप की अनेक परिभाषाएं मिलती हैं। जैसे—1. आगम तीर्थंकर-वाणी है। 2. आगम वीतराग-वाणी है। 3. आगम सर्वज्ञप्रणीत है। 4. आगम आप्तवचन है। 5. गुरु-परंपरा से प्राप्त ज्ञान-विज्ञान आगम है। 6. पूर्वापर-अविरुद्धवाणी आगम है। 7. हेयोपादेय का प्ररूपक आगम है। 8. निर्वाण और संसार का निरूपक आगम है। 9. यथार्थ तत्त्वों का निरूपक आगम है। 10. यथार्थ तत्त्वों का प्रतिपादक है।

जैनाचार्य महाप्रज्ञ आगम का अर्थ 'आगम-पुरुष' करते हैं। उनकी

दृष्टि में जैन दर्शन में आगम कोई ग्रंथ नहीं है। वेद को मानने वाले वेद को स्वतःप्रमाण मानते हैं, क्योंकि वह ईश्वरीय ज्ञान है। जैन दर्शन के अनुसार कोई भी ग्रंथ स्वतःप्रमाण नहीं है। प्रत्येक ग्रंथ परतःप्रमाण है। स्वतःप्रमाण आगम है। आगम का अर्थ शास्त्र नहीं है। आगम का अर्थ है—आगम-पुरुष। आगम है—'अतींद्रिय ज्ञान'। पहले आगम-पुरुष था और अब आगम शास्त्र को कहते हैं। जब आगम-पुरुष नहीं रहे, तब उनके द्वारा रचित श्रुत ही प्रमाण बन गया, उसी को मान कर चल रहे हैं।

वर्गीकरण

ज्ञान पांच हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल। इनमें चार ज्ञान स्थाप्य हैं—वे केवल स्वार्थ हैं। परार्थज्ञान केवल एक है, वह है श्रुत। उसी के माध्यम से सारा विचार-विनिमय और प्रतिपादन होता है। व्यापक अर्थ में श्रुत का प्रयोग शब्दात्मक और संकेतात्मक—दोनों प्रकार की अभिव्यक्तियों के अर्थ में होता है। संक्षेप में 'श्रुत' का प्रयोग शास्त्र के अर्थ में होता है। श्रुत के दो प्रकार बतलाए गए हैं—(i) अंगप्रविष्ट, (ii) अनंगप्रविष्ट या अंगबाह्य।

जिन आगमों के वक्ता महावीर हैं और संकलनकर्ता गणधर हैं, वे आगम श्रुत-पुरुष के मूल अंग हैं। वे अंग प्रविष्ट कहलाते हैं। अंग-ग्रंथों के आधार से अन्य स्थविरों ने बाद में ग्रंथों की रचना की, वे आगम, अंग-बाह्य कहलाते हैं। उपर्युक्त वर्गीकरण अनुयोग द्वार सूत्र में है तथा नंदी सूत्र में भी उपलब्ध है, जो वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी की कृति है। काल-क्रम के अनुसार आगमों का पहला वर्गीकरण समवायांग सूत्र में मिलता है, जो वीर-निर्वाण की छठी शताब्दी की कृति है, इसमें आगमों का सर्वप्रथम वर्गीकरण निम्न प्रकार से प्राप्त होता है—(i) द्वादशांग गणिपिटक, (ii) चतुर्दश पूर्व।

आज 'पूर्व' उपलब्ध नहीं हैं। प्राचीन आचार्यों के अनुसार पूर्वों की रचना द्वादशांगी से पहले हुई थी, इसलिए इनका नाम 'पूर्व' रखा गया। यद्यपि 'पूर्व' आज उपलब्ध नहीं हैं, फिर भी वे द्वादशांगी में समाए हुए हैं। द्वादशांगी अर्थात् बारह अंग, उनके नाम निम्न प्रकार हैं—1. आचार, 2. सूत्रकृत, 3. स्थान, 4. समवाय, 5. भगवती, 6. ज्ञाता-धर्मकथा, 7. उपासक दशा, 8. अंतकृत दशा, 9. अनुत्तरोपपातिक दशा, 10. प्रश्नव्याकरण, 11. विपाक, 12. दृष्टिवाद (उपलब्ध नहीं है)।

महावीर के बाद स्थविरों ने आगमों का पल्लवन किया, जिससे आगम सूत्रों की संख्या अनेक हो गई। जैन आगमों की संख्या के विषय में अनेक मत प्रचलित हैं, इनमें तीन मुख्य हैं। यथा—(i) 84 आगम, (ii) 45 आगम, (iii) 32 आगम।

दिगंबर परंपरा के अनुसार अंगगत अर्द्धमागधी भाषा का मूल साहित्य वीर निर्वाण के 683 वर्ष पश्चात् प्रायः सर्वलुप्त हो गया। दृष्टिवाद-अंग का कुछ भाग शेष रहा, वह लिपिबद्ध हुआ।

श्वेतांबर परंपरा के अनुसार यद्यपि आगमों का विच्छेद और ह्रास हुआ, लेकिन वीर निर्वाण के बाद आगमों पर चार-पांच वाचनाएं हुईं। इससे आगम सुरक्षित रहे। श्वेतांबर परंपरा में तीन प्रमुख संप्रदाय हैं—(i) मूर्तिपूजक, (ii) स्थानकवासी, (iii) तेरापंथी।

मूर्तिपूजक परंपरा को पैंतालीस आगम मान्य हैं। स्थानकवासी और तेरापंथी संप्रदाय को बत्तीस आगम मान्य हैं, जो आगम-बत्तीसी के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे हैं—11 अंग, 12 उपांग, 4 मूल, 4 छेद और 1 आवश्यक। यह वर्गीकरण बहुत प्राचीन नहीं है। विक्रम की 13-14वीं शताब्दी से पूर्व इस वर्गीकरण का उल्लेख प्राप्त नहीं है।

जैन आगमों की रचनाएं दो प्रकार से हुई हैं—(i) कृत (ii) निर्यूहित।

कृत

जिन आगमों का निर्माण स्वतंत्र रूप से हुआ है, वे आगम कृत कहलाते हैं। जैसे गणधरों के द्वारा द्वादशांगी की रचना की गई है। भिन्न-भिन्न स्थविरों के द्वारा उपांग साहित्य का निर्माण किया गया है, वे सब कृत आगम हैं।

निर्यूहित

निर्यूहित आगम पूर्वों से अथवा द्वादशांगी से रचित किए गए हैं, वे निम्न हैं— (i) आचारचूला, (ii) दशवैकालिक, (iii) निशीथ, (iv) दशाश्रुतस्कंध, (v) बृहत्कल्प, (vi) व्यवहार, (vii) उत्तराध्ययन का परीषह अध्ययन।

अनुयोग

व्याख्याक्रम व विषयगत वर्गीकरण की दृष्टि से आर्यरक्षित सूरि ने आगमों को चार भागों में वर्गीकृत किया। ये हैं—(i) चरण-करणानुयोग—कालिक श्रुत। (ii) धर्मानुयोग—ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन आदि।

(iii) गणितानुयोग—सूर्यप्रज्ञप्ति आदि।
(iv) द्रव्यानुयोग—दृष्टिवाद या सूत्रकृत आदि।

यह वर्गीकरण विषय-सादृश्य की दृष्टि से है। व्याख्याक्रम की दृष्टि से आगमों के दो रूप बनते हैं— (i) अपृथक्त्वानुयोग। (ii) पृथक्त्वानुयोग।

आर्यरक्षित से पूर्व अपृथक्त्वानुयोग प्रचलित था। उसमें प्रत्येक सूत्र की चरण-करण, धर्म, गणित और द्रव्य की दृष्टि से व्याख्या की जाती थी। यह व्याख्या-क्रम बहुत जटिल और बहुत बुद्धि-स्मृति सापेक्ष था। आर्यरक्षित ने देखा कि दुर्बलिका पुष्यमित्र जैसा मेधावी मुनि भी इस व्याख्या-क्रम को याद रखने में श्रांत-क्लांत हो रहा है, तो अल्प मेधा वाले मुनि इसे कैसे याद रख पाएंगे? एक प्रेरणा मिली और उन्होंने पृथक्त्वानुयोग का प्रवर्तन कर दिया। उसके अनुसार चरण-करण आदि विषयों की दृष्टि से आगमों का विभाजन हो गया।

सूत्रकृत चूर्णि के अनुसार अपृथक्त्वानुयोग-काल में प्रत्येक सूत्र की व्याख्या चरण-करण आदि चार अनुयोग तथा सात सौ नयों से की जाती थी। पृथक्त्वानुयोग-काल में चारों अनुयोगों की व्याख्या पृथक-पृथक की जाने लगी।

रचनाकाल

जर्मन विद्वान हरमन जेकोबी ने आगमों का रचनाकाल ईसा पूर्व चौथी शताब्दी माना है। इन्होंने आगम में हुए छंद-प्रयोग, विषयवस्तु, लेखन-शैली का ऐतिहासिक-साहित्यिक दृष्टि से मूल्यांकन किया है। वह काल महावीर परंपरा में छठे आचार्य भद्रबाहु का है, जब पाटलिपुत्र में प्रथम वाचना हुई थी। जर्मन विद्वान जेकोबी ने अंगों की रचना को स्वतंत्र इकाई माना है—**Angas are unit formed by themselves**। ये वेदांग की भांति नहीं हैं, जो वेदों के अतिरिक्त लिखे गए हैं।

जैन आगम साहित्य की ऐतिहासिकता का अध्ययन करते हुए जर्मन विद्वानों की धारणा बनी कि आचारांग, सूत्रकृत, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, छेद-सूत्र तथा आवश्यक-सूत्र भाषा, छंद और व्याकरण की दृष्टि से प्राचीन हैं। इनमें त्रिष्टुप, जगती, वैताल्य आदि वेद-छंदों का उपयोग हुआ है, जो प्राचीन छंद हैं। इनमें विषयों के संकेत शब्दों का आरंभ और अंत भी इनकी प्राचीनता को प्रकट करते हैं।

श्वेतांबर परंपरा में द्वादशांगी को प्रमुखता दी गई है, क्योंकि ये स्वतःप्रमाण हैं। इन्हें अंग-प्रविष्ट कहा गया है। बारहवां अंग दृष्टिवाद लुप्त हो ज़ाने से अब केवल ग्यारह अंग ही उपलब्ध हैं, जो देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की वाचना के हैं (वीर निर्वाण से 980-993 वर्ष बाद)।

वाचनाएं

दशवैकालिक सूत्र की भूमिका में आचार्य तुलसी ने वाचनाओं के संबंध में निम्न वर्णन किया है—

पहली वाचना

वीर निर्वाण की दूसरी शताब्दी (वी.नि. के 160वें वर्ष पश्चात्) में पाटलीपुत्र में बारह वर्ष का भीषण दुष्काल पड़ा। उस समय श्रमण संघ छिन्न-भिन्न हो गया। अनेक श्रुतधर काल-कवलित हो गए। अन्यान्य दुविधाओं के कारण यथावस्थित सूत्र-परावर्तन नहीं हो सका, अतः आगम-ज्ञान की शृंखला टूट-सी गई। दुर्भिक्ष मिटा। उस काल में विद्यमान विशिष्ट आचार्य पाटलीपुत्र में एकत्रित हुए। ग्यारह अंग एकत्रित किए। उस समय बारहवें अंग के एकमात्र ज्ञाता भद्रबाहु स्वामी थे और वे नेपाल में महाप्राण-ध्यान की साधना कर रहे थे। संघ के विशेष निवेदन पर स्थूलिभद्र मुनि को बारहवें अंग की वाचना देना स्वीकार किया। उन्होंने दस-पूर्व अर्थ सहित सीख लिए। ग्यारहवें-पूर्व की वाचना चालू थी। बहिनों को चमत्कार दिखाने के लिए उन्होंने सिंह का रूप बनाया। भद्रबाहु ने इसे जान लिया। आगे वाचना बंद कर दी। फिर विशेष आग्रह करने पर अंतिम चार-पूर्वों की वाचना दी, किंतु अर्थ नहीं बताया। अर्थ की दृष्टि से अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ही थे। स्थूलिभद्र शाब्दिक दृष्टि से चौदह-पूर्वी थे, किंतु आर्थीदृष्टि से दस-पूर्वी ही थे।

दूसरी वाचना

आगम-संकलन का दूसरा प्रयत्न वीर-निर्वाणकाल 827 और 840 के मध्यकाल में हुआ।

उस काल में बारह वर्ष का भीषण दुर्भिक्ष हुआ। भिक्षा मिलना अत्यंत दुष्कर हो गया। साधु छिन्न-भिन्न हो गए। वे आहार की उचित गवेषणा में दूर-दूर देशों की ओर चल पड़े। अनेक बहुश्रुत तथा आगमधर मुनि दिवंगत हो गए। भिक्षा की प्राप्ति न होने के कारण आगम का अध्ययन-अध्यापन, धारण और प्रत्यावर्तन, सभी अवरुद्ध हो गए। धीरे-धीरे श्रुत का ह्रास होने लगा। अतिशाई श्रुत का नाश हुआ। अंगों और उपांगों का भी अर्थ से ह्रास हुआ। उनका बहुत बड़ा भाग नष्ट हो गया। बारह वर्ष के

इस दुष्काल के बाद सारा श्रमण संघ स्कंदिलाचार्य की अध्यक्षता में मथुरा में एकत्रित हुआ। उस समय जिन-जिन श्रमणों को जितना-जितना स्मृति में था, उसका अनुसंधान किया। इस प्रकार कालिक सूत्र और पूर्वगत के कुछ अंश का संकलन हुआ। मथुरा में होने के कारण उसे 'माथुरी वाचना' कहा गया। युगप्रधान आचार्य स्कंदिल ने उस संकलित श्रुत के अर्थ की अनुशिष्टि दी, अतः वह अनुयोग उनका ही कहलाया। माथुरी वाचना को 'स्कंदिली वाचना' भी कहा गया।

मतांतर के अनुसार यह भी जाना जाता है कि दुर्भिक्ष के कारण किंचित भी श्रुत नष्ट नहीं हुआ। उस समय सारा श्रुत विद्यमान था, किंतु आचार्य स्कंदिल के अतिरिक्त शेष सभी अनुयोगधर मुनि काल-कवलित हो गए थे। दुर्भिक्ष का अंत होने पर आचार्य स्कंदिल ने मथुरा में पुनः अनुयोग का प्रवर्तन किया, इसीलिए उसे 'माथुरी वाचना' भी कहा गया और वह सारा अनुयोग 'स्कंदिल' संबंधी गिना गया।

तीसरी वाचना

इसी समय (वीर-निर्वाणकाल 827-840) वल्लभी में आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में संघ एकत्रित हुआ। उस समय जिन-जिन श्रमणों को जितना-जितना याद था, उसका संकलन प्रारंभ किया, किंतु यह अनुभव हुआ कि वे बीच-बीच में बहुत-कुछ भूल चुके हैं। श्रुत की संपूर्ण व्यवच्छित्ति न हो जाए, इसलिए जो स्मृति में था, उसे संकलित किया। उसे 'वल्लभी वाचना' या 'नागार्जुनीय वाचना' कहा गया।

चौथी वाचना

वीर-निर्वाण की दसवीं शताब्दी (980 या 993 वर्ष) में देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में वल्लभी में पुनः श्रमण संघ एकत्रित हुआ। स्मृति-दौर्बल्य, परावर्तन की न्यूनता, स्मृति का ह्रास और परंपरा की व्यवच्छित्ति आदि-आदि कारणों से श्रुत का अधिकांश भाग नष्ट हो चुका था, किंतु एकत्रित मुनियों को अवशिष्ट श्रुत की न्यून या अधिक, त्रुटित या अत्रुटित, जो-कुछ स्मृति थी, उसकी व्यवस्थित संकलना की गई। देवर्द्धिगणी ने अपनी बुद्धि से उसकी संयोजना कर उसे पुस्तकारूढ़ किया। माथुरी तथा वल्लभी वाचनाओं के कंठगत आगमों को एकत्रित कर उन्हें एकरूपता देने का प्रयास हुआ। जहां अत्यंत मतभेद रहा, वहां माथुरी वाचना को मूल मानकर वल्लभी वाचना के पाठों को पाठांतर में स्थान दिया गया। यही कारण है कि आगम के व्याख्या-ग्रंथों में यत्र-तत्र—**नागार्जुनीयास्तु पठंति**—ऐसा उल्लेख हुआ है।

विद्वानों की मान्यता है कि इस संकलना से सारे आगमों को व्यवस्थित रूप मिला। भगवान महावीर के पश्चात् एक हजार वर्षों में घटित मुख्य घटनाओं का समावेश यत्र-तत्र आगमों में किया गया। जहां-जहां समान आलापकों का बार-बार पुनरावर्तन होता था, उन्हें संक्षिप्त कर एक-दूसरे का पूर्ति-संकेत एक-दूसरे आगम में किया गया।

वर्तमान में जो आगम उपलब्ध हैं, वे देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की वाचना के हैं। उसके पश्चात् उनमें संशोधन, परिवर्धन या परिवर्तन नहीं हुआ। विद्वानों का मानना है कि इस वाचना से सारे आगम व्यवस्थित रूप से संकलित हो गए, लेकिन भगवान महावीर के पश्चात् एक हजार वर्षों में घटित मुख्य घटनाओं का समावेश भी यत्र-तत्र आगमों में हो गया है। इसके पश्चात् उनमें संशोधन, परिवर्धन या परिवर्तन नहीं हुआ।

संपादन-संशोधन

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में आगम, आगमों की टीकाएं, चूर्णि व निर्युक्ति प्रकाशित हुईं और आगम-अध्ययन का विस्तार हुआ। तदनंतर विदेशी विद्वानों में, विशेषकर, जर्मन इंडोलोजिस्ट ने गहराई से अध्ययन और प्रकाशन किया। देवर्द्धिगणी की वाचना के प्रायः पंद्रह सौ वर्षों के बाद पिछले विभिन्न दशकों में आगम साहित्य के संपादन-संशोधन तथा प्रकाशन के क्षेत्र में विपुल कार्य हुआ है। मुनि पुण्यविजयजी, जंबूविजयजी, आचार्य आत्मारामजी, अमोलकऋषिजी, युवाचार्य मधुकरजी, मुनि कन्हैयालालजी, आचार्यश्री तुलसीजी और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के नाम उल्लेखनीय हैं।

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर ने आगम बत्तीसी के प्रकाशन की योजना 1980 से प्रारंभ की। जनवरी, 1992 में अंतिम प्रकाशन 'त्रीणि छेद सूत्राणि' हुआ। इन प्रकाशनों का उद्देश्य यह रहा कि आगमों और उनकी टीकाओं का सारांश सरल-सुबोध भाषा-शैली में पाठकों को उपलब्ध कराया जाए। इस आगम-कार्य में अनुवाद और संपादन, श्रमण संघ के युवाचार्यश्री मिश्रीमलजी तथा विवेचक के रूप में मुनि कन्हैयालालजी 'कमल' का विशेष श्रम लगा। आगम बत्तीसी के पूर्ण प्रकाशन के कारण, इनके

अध्ययन का क्रम बढ़ा है। इन आगमों में जैन दर्शन, धर्म, आचार के सिद्धांतों के अतिरिक्त युगीन संस्कृति, कला, इतिहास का भी वर्णन है।

चार अनुयोग

मुनिश्री कन्हैयालालजी 'कमल' ने जैन श्रुत-ज्ञान का चार अनुयोगों में आगम विषयक सामग्री का संपादन किया है, जिसका प्रकाशन बीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों में हुआ है। चारों विशाल ग्रंथ बहुत उपयोगी हैं। मुनिश्री के अनुसार अनुयोग पद्धति के वर्गीकरण के निम्न लाभ हैं—

(अ) यद्यपि अनुयोग-वर्गीकरण पद्धति आगमों के उत्तरकालीन चिंतक आचार्यों की देन है, किंतु यह आगम-पाठी, श्रुताभ्यासी मुमुक्षु के लिए बहुत उपयोगी है। आज के युग में तो इस पद्धति की अत्यधिक उपयोगिता है।

(ब) विशाल आगम साहित्य का अध्ययन कर पाना सामान्य व्यक्ति के लिए बहुत कठिन है। इसलिए जब जिस विषय का अनुसंधान करना हो, तब तद्विषयक आगम पाठ का अनुशीलन करके जिज्ञासा का समाधान किया जा सके—यह तभी संभव है, जब अनुयोग पद्धति से संपादित आगमों का शुद्ध संस्करण उपलब्ध हो।

अनुयोग पद्धति से आगमों का स्वाध्याय करने पर अनेक जटिल विषय स्वयं समाहित हो जाते हैं, जैसे—(i) आगमों का किस प्रकार विस्तार हुआ है—यह स्पष्ट हो जाता है। (ii) कौन-सा पाठ आगम संकलनकाल के पश्चात् प्रविष्ट हुआ है? (iii) आगम पाठों में आगम लेखन से पूर्व तथा पश्चात् वाचन-भेद के कारण तथा देश-काल के व्यवधान के कारण लिपिकाल में क्या अंतर पड़ा है? (iv) कौन-सा आगम पाठ स्व-मत का है, कौन-सा पर-मत की मान्यता वाला है? तथा भ्रांतिवश पर-मत मान्यता वाला कौन-सा पाठ आगम में संकलित हो गया है?

इस प्रकार के अनेक प्रश्नों के समाधान इस शैली से प्राप्त हो जाते हैं, जिनका आधुनिक शोध छात्रों, प्राच्य विद्या के अनुसंधाता विद्वानों के लिए बहुत महत्त्व है।

गणाधिपतिश्री तुलसी द्वारा आगमों के संपादन की घोषणा संवत् 2011 में की गई। वर्तमान में आगम कार्य का अधिकतर भाग प्रकाशित हो चुका है, लेकिन कुछ भाग प्रकाशित होना है। इन संपादित आगमों की यह विशेषता रही है कि उनमें आगमों के द्वारा ही आगमों की व्याख्या की गई है। इसके अतिरिक्त विषयों को विस्तार देते हुए अन्य दर्शनों की अवधारणाओं का, विज्ञान का तथा अन्य प्राच्य-साहित्य का भी उपयोग किया गया है। यत्र-तत्र जर्मन विद्वानों के निष्कर्षों पर भी टिप्पण दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त परंपरा से चले आ रहे अनेक प्रश्नों का समाधान भी दिया है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का मंतव्य

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का मंतव्य रहा है कि देवर्द्धिगणी के समय की वाचना का आधार पूर्व में हुई मथुरा एवं वल्लभी की वाचनाएं रही हैं। इसी कारण जहां दोनों वाचनाओं में अत्यंत मतभेद रहा, वहां अपने संपादित आगमों में माथुरी वाचना को मूल मानकर वल्लभी वाचना के पाठों को पाठांतर में स्थान दिया गया।

इसीलिए आगम के व्याख्या ग्रंथों में यत्र-तत्र 'नागार्जुनीयास्तु पठंति' ऐसा उल्लेख हुआ है। इन तथ्यों को ध्यान रखते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का स्पष्ट मत है कि आगमों की रचना को ऐतिहासिक काल की दृष्टि से अलग-अलग अंकन करना सार्थक नहीं है, क्योंकि रचनाएं योजनाबद्ध ढंग से हुई हैं।

द्वादशांगी के लिए आगम शब्द का प्रयोग बाद में हुआ है। पहले आगम शब्द का प्रयोग केवल पुरुष के लिए होता था। अवधिज्ञानी आगम होता है, चतुर्दश-पूर्वी आगम होता है और दश-पूर्वी भी आगम होता है। विशिष्ट ज्ञान से संपन्न पुरुष आगम कहलाते हैं और वे स्वतःप्रमाण होते हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने आगम शब्द की विवेचना करते हुए महावीर के समय की चिंतनधारा को स्पष्ट किया है।

महावीर के बाद दर्शनयुग में आगम की परिभाषा में बदलाव आया। दर्शनयुग की परिभाषा है—**आप्त वचनादाविर्भूतं अर्थसंवेदनं आगमः**। आप्त-वचन से होने वाले अर्थ का संवेदन आगम है। यहां भी आगम का मतलब ग्रंथ नहीं है। आप्त-वचन से व्यक्ति को जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान आगम है। उपचार से आप्त की वाणी को भी आगम कहा जाता है। जिस ग्रंथ में जो ज्ञान हुआ है, वह ज्ञान आगम है। उपचार की दृष्टि से वह ग्रंथ भी आगम कहलाता है। यह दर्शनयुग की आगम की परिभाषा है।

आगमयुग में कहा गया—वह ज्ञान जो केवलज्ञान (सर्वज्ञ) से प्रकट हुआ है, युक्ति और गोचर से अतीत है और जो प्रायः अतींद्रियार्थ विषय है—वह आगम है। आगम का विषय है—इंद्रियातीत पदार्थ। इस दृष्टि से अरूपी द्रव्य—जैसे आत्मा—यह विषय आगम का है,

क्योंकि आत्मा इंद्रिय और हेतुगम्य नहीं है। वनस्पति के एक-एक कण में अनंत-अनंत जीव होते हैं, यह आगम का विषय है। कर्म की वर्गणाएं भी चक्षु का विषय नहीं हैं, अतः यह कहा जा सकता है कि जो अतींद्रिय विषय है—वह आगम है। महावीर ने जो जाना, देखा—वही कहा। इसलिए उन्हें युक्ति या तर्क की कोई अपेक्षा नहीं रही।

आगमों के प्रति आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की दृष्टि अत्यंत स्पष्ट रही है। वे लिखते हैं—'यह एक बहुत प्रशस्त दृष्टिकोण है कि अतींद्रिय ज्ञान के विषय में आगम का सहारा लेना चाहिए और जो बातें इंद्रियगम्य हो सकती हैं, उनके लिए तर्कवाद का प्रयोग करना चाहिए। अन्यथा ग्रंथ एवं शास्त्र के नाम पर एक प्रकार का अंधविश्वास और रूढ़िवाद पनप जाता है।'

जैन परंपरा में मूलतः शास्त्र को प्रमाण नहीं माना गया। महावीर की यह एक नई क्रांति थी। उन्होंने उस व्यक्ति को ही प्रमाण माना जिसके ज्ञान में कोई व्यवधान नहीं है।

जैन आचार्यों ने आगमों की व्याख्याएं युग की आवश्यकतानुसार सदैव की हैं। दर्शन-युग में दर्शन के साथ संगति बैठाई। आज विज्ञान का युग है, अतः आगमों को आज नए संदर्भ में प्रस्तुत करना आवश्यक है। आगम को विज्ञान के संदर्भ में पढ़ना आवश्यक है। आगम और विज्ञान में कहां सामंजस्य है और कहां सामंजस्य नहीं है—इस ओर भी ध्यान केंद्रित करना है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की दृष्टि में जैन दर्शन के लिए आज का वैज्ञानिक युग स्वर्ण-युग है। आगमों में वर्णित तथ्यों को वैज्ञानिक आधार मिल रहा है। विज्ञान, उपकरणों के माध्यम से सूक्ष्म से सूक्ष्म कणों को जानने लगा है तथा दूर जाती हुई नीहारिकाओं का पता लगा रहा है। ब्लेक-हॉल की वैज्ञानिक एवं गणितीय धारणाएं पुष्ट होती जा रही हैं। 'जींस' के द्वारा शरीर में होने वाले रोगों के कारण और निवारण का पता लग रहा है। जैन आगमों में इन सभी तथ्यों का विभिन्न विषयों के अंतर्गत विस्तार से वर्णन हुआ है। उनका आधुनिक संदर्भ में अध्ययन आवश्यक है। ❖

प्रत्येक धर्म एक हेतु (कारण) है क्योंकि वह शक्ति है। जहां यह शक्ति प्रत्येक चेतन प्राणी में निहित होती है वहीं यह दो प्रकार से प्रकट होती है—बाह्य रूप से, अर्थात् संवृत्तियों के तात्कालिक कारण के रूप में और आंतरिक रूप से, स्वयं को जन्म देने वाले को परिवर्तित करते हुए और विकट या दूरस्थ भविष्य में सामने आनेवाले परिणामों को स्वयं में समोए हुए।

हमें पता है कि व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक कायाएं पांच उपादान-स्कंधों के संयोग ही है; ये उपादान-स्कंध भौतिक गुणों में विभाजित हैं : रूप, वेदना (संवेदना), संज्ञा (प्रत्यक्ष), संस्कार (शक्तियां), और विज्ञान अर्थात् चेतना। ये पांचों एक समान अस्थाई हैं और द्वैत्वपूर्ण भी। संस्कार मनुष्य की प्रवृत्तियों और रचनात्मक शक्तियों का नाम है जो पिछले धर्मों से वर्तमान धर्मों की व्याख्या करती हैं और यह बताती हैं कि वर्तमान धर्मों में से कौन-कौन भावी धर्मों के कारण बनेंगे।

'संस्कार पिछली संवेदनाओं के शेष बचे प्रभाव हैं और भावी संवेदनाओं को अपने गुण प्रदान करते हैं।' संस्कार-उपादान-स्कंध की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि यह स्कंध समूह ऐसा है जिसमें अन्य स्कंधों की समस्त विशेषताएं समाहित हो जाती हैं। विज्ञान-उपादान-स्कंध और अंशतः संज्ञा-उपादान-स्कंध अन्य संयोगों को अपना चरित्र प्रदान करते हैं और इस प्रकार तृष्णा और कर्म के रूप में अगले जीवन के कारण बनते हैं।

'रूप एक पात्र के समान है, वेदना उस पात्र में रखे भोजन के समान है, संज्ञा चटनी के समान है, संस्कार रसोइए के समान है तथा विज्ञान उपभोग करनेवाले के समान है।'

कोई भी तत्त्व एक जीवन से दूसरे में संक्रमण नहीं करता परंतु कोई भी नव-जीवन में तब तक प्रवेश नहीं करता जब तक पिछले जीवन में उसका कारण विद्यमान न रहा हो। जब पिछली चेतना का लोप हो जाता है तो उसी को मृत्यु कहते हैं। जब जीवन में चेतना फिर आती है तो एक नया जन्म होता है। हमें यह बात समझ लेनी चाहिए कि आज की चेतना कल की चेतना से जन्मी नहीं होती, परंतु उसकी वर्तमान अवस्था पिछले जन्म में संगृहित कारणों का परिणाम अवश्य होती है।

—हेलेना रेरिख

सामुदायिक स्वस्थता : कुछ आधार सूत्र

मुनि संबोधकुमार

इस दुनिया में जन्म लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति में अनंत शक्ति, अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन और अनंत चारित्र का स्रोत अबाधित गति से प्रवाहित हो रहा है। तब अपेक्षा और उपेक्षा की भेदात्मकता का दर्शन क्यों? इसका उत्तर किसी के पास नहीं है। आज जिस निषेधात्मक और संकुचित मनोजगत का निर्माण हो रहा है, उससे महावीर के समाजवादी और सह-अस्तित्व के दृष्टिकोण के पुनर्जन्म की अपेक्षा महसूस हो रही है। सामुदायिक चेतना के विखंडन में सह-अस्तित्व के सिद्धांत को नकारने की मनोवृत्ति ही कार्यकर है। परिवार का प्रत्येक सदस्य पारस्परिक योग्यता का मूल्यांकन करे, एक-दूसरे के अस्तित्व को सर्वात्मना-भाव से स्वीकार करे और निष्पक्षपातपूर्ण व्यवहार करने का संकल्प करे तो महावीर. के सह-अस्तित्व के सिद्धांत का पुनर्जन्म हो सकता है।

जीवन क्या है? अनेकानेक परिभाषाओं से इसे परिभाषित किया जा सकता है। 'युनिटी इज लाइफ'—से भी जीवन को परिभाषित किया गया है। इस में सचाई का बहुत बड़ा अंश निहित है। यदि 'युनिटी' नहीं है, तो जीवन जीवन नहीं रहेगा। वह प्राणसंपन्न होते हुए भी प्राणहीन बन जाएगा। निश्चयनय की दृष्टि से आदमी अकेला था, है, और भविष्य में भी अकेला ही रहेगा, किंतु व्यवहारनय सामुदायिकता मांगता है। आदमी किसी भी क्षेत्र में सामुदायिकता का विध्वंस कर विकास के पथ पर आरोहण नहीं कर सकता। हम छोड़ दें जिनकल्पी मुनि की साधना की बात को, जिनका उद्देश्य ही साधनाकाल में परीषहों को आमंत्रित कर उनके साथ संघर्ष करना था। किंतु, स्थविरकल्पी मुनि के लिए साधना की भूमिका पर प्रखर होने के लिए साहचर्य नितांत अपेक्षित है। साहचर्य का अभाव साधना के धरातल को परिपक्वता प्रदान करने में अशक्य है। समुदाय है तो विकास है। बचपन में मैंने पढ़ा था कि 'युनाइटेड वी स्टेंड, डीवाइडेड वी फॉल'। सामूहिक भावना पर जब तक कुठाराघात होते जाएंगे, तब तक विकास के पथ में अवरोध पैदा होते जाएंगे।

समुदाय—समत्व का अभ्युदय

समुदाय क्या है? क्या एक से दो का होना समुदाय है? नहीं। यह समुदाय की परिभाषा नहीं हो सकती। उसकी परिभाषा होगी—समत्वभाव का अभ्युदय। जिस जीवन से सतत तितिक्षा, सामंजस्य, सौमनस्य के मनोभाव समुदित होते रहें, जिस जीवन में कषाय, कदाग्रह और वैषम्य के उपशमन का प्रयोग होता रहे—वही जीवन यथार्थतः सामुदायिक जीवन की परिभाषा से परिभाषित हो सकता है। वर्तमान युग संवेदनहीनता का युग है। इसी संवेदनहीनता का परिणाम है कि सामुदायिकता खंडित हो रही है। पारिवारिक जीवन पर कुठाराघात और एक अलग-थलग मनोभाव का निर्माण हो रहा है।

क्यों टूटते हैं परिवार

आधुनिक युग के इस परिवर्तित परिवेश ने मानव मस्तिष्क को निषेधात्मकता की दिशा की ओर ले जाने का प्रयास ही किया है। इसी का

परिणाम है कि मानवीय सभ्यता का स्वर्णिम अतीत तिरोहित हो रहा है। हिंदुस्तान की आदर्श परंपराओं की शृंखला में सामुदायिक जीवन का अनिर्वचनीय मूल्य रहा है। किंतु, परिस्थितियों और मानसिक अवधारणाओं ने इसे नकारने का प्रयत्न किया है। संयुक्त परिवार की आदर्श परंपरा के विखंडन ने सामुदायिकता को भी बिखराव के कगार पर ला खड़ा कर दिया है। वर्तमान की यह कटु सचाई है कि आज एक साथ बड़ा परिवार सह-जीवन नहीं जी सकता। इस मनोधारणा को विकसित करने का प्रयत्न किया जा रहा है—'हम दो हमारे दो', इस अवधारणा ने सामूहिक चेतना को विखंडित किया है। तलाक, आत्म-हत्या और अन्यान्य तरह के बिखराव-तनाव सामुदायिक चेतना के अभाव में ही प्रादुर्भूत होते हैं। आदमी की चिंतन शैली इतनी विकृत हो गई है कि वह दूसरों को अपने से ऊपर उठते हुए देखना ही नहीं चाहता। आवश्यक है कि चिंतन के इस कोण को परिष्कृत किया जाए। चिंतन का कोण परिष्कृत हुआ कि, फिर न तो किन्हीं पारिवारिक न्यायालयों की अपेक्षा रहेगी और न ही सामुदायिक जीवन पर कुठाराघात करने वाले हालात ही पैदा होंगे।

विकास की अनेक संभावनाओं को समुदाय अपने भीतर समेटे हुए होता है। सामुदायिक चेतना का अभाव उन सारी संभावनाओं को समाप्त कर देता है। संस्कारों के आविर्भाव से समुदाय की प्राणवत्ता का आधार-तंत्र खड़ा हो सकता है। एक ऐसी वृत्ति का प्रादुर्भाव हो सकता है जो सामंजस्य के विकास की दिशा-प्रदाता बन सके।

विनम्रता : सामुदायिक स्वस्थता का आदिमंत्र

सामुदायिक स्वस्थता का आदि-मंत्र है—पारस्परिक समर्पण का मनोभाव। एक साथ सहजीवन का निर्वाह करने वाले सदस्यों में पारस्परिक समर्पण की भावना समुदाय के योगक्षेम में योगभूत होती है। जबकि अहंकार और ममकार की मनोवृत्ति सहजीवन में नीरसता पैदा कर देती है। यही नीरसता स्नेहिल संबंधों की दुनिया में द्वंद्व पैदा कर देती है। तादात्म्य और आत्मीयतापूर्ण संबंधों में विरोधाभासों का युवा पीढ़ी के मस्तिष्कीयतंत्र पर जो प्रभाव पड़ता है, उससे जो मनोधारणा बन रही है, वह समर्पण और विनम्रता को भी नकारात्मक नजरिये से देखती है। सामुदायिक तरतमता पर इस अर्थहीन सोच का प्रतिकूल प्रभाव ही पड़ा है। स्वतंत्र और स्वच्छंद रहने की चेतना ने संस्कृति, शिष्टाचार, व्यवहार और संस्कार को प्रताड़ित कर दिया है।

जैन आगमों में अहं-शिथिलीकरण के अनेक सूत्र प्रयुक्त हैं। 'माणो विणये णासणों, माण मदवये जिणे'— सूत्र यथार्थतः अभिमान विजय के महान उपक्रम बन सकते हैं, बशर्ते कि ये हृदय तक प्रस्थान करें और अर्थ की अनुप्रेक्षा का प्रयोग किया जाए। भगवान महावीर ने कहा—अहंकार और विनम्रता का साहचर्य नहीं हो सकता। जब अंतश्चेतन पर 'सुपर-ईगो' हावी हो जाता है, तब मृदुता, बड़ों के प्रति सम्मान का मनोभाव उपेक्षित हो जाते हैं। तभी सारे विग्रह, कदाग्रह और मानसिक वैषम्य पैदा हो जाते हैं। विषमता का उद्दीपन भी वहीं होता है, जहां अकड़पन है, 'ईगो' है।

शांतिपूर्ण सहवास के विकास के लिए आवश्यक है—व्यवहार का लचीलापन और अहं का शिथिलीकरण। जो झुकने की कला में निष्णात नहीं होता, वह कभी भी चोटग्रस्त हो सकता है। कटुता या अहंकारपूर्ण शब्दों से कोई कार्य संपादित नहीं किया जा सकता। समर्पण और सहजता से हर कार्य संपादित किया जा सकता है। अतः सामुदायिक जीवन की एकसूत्रता और अखंडता के लिए मृदुता, समर्पण और विनम्रता की चेतना का जागरण अनिवार्यतः अपेक्षित है।

समुदाय की मौलिक अपेक्षा : तितिक्षा का विकास

यह सर्वमान्य सिद्धांत है कि सहिष्णुता के अभाव में संतुलन की परिस्थापना असंभव है। पृथ्वी सहिष्णु है, इसलिए इतने दोहन और उत्खनन के पश्चात् भी संतुलन वैषम्य नहीं होता। तितिक्षा वहीं अपेक्षित होती है, जहां सहजीवन है, सामुदायिकता है।

वह समुदाय स्वर्गिक सुखानुभूति कराने वाला होता है, जहां परस्पर मानसिक व भावनात्मक क्षमता का विकास हो। जो सहिष्णुता की कला में अभिष्णात हो जाता है, उसे बाह्य शक्तियां प्रभावित नहीं कर सकती। सहिष्णुता का अंश-मात्र अभाव भी जीवनशैली, व्यक्तित्व और व्यवहार को विखंडित कर देता है और संपूर्ण जीवन असंतुलन का केंद्र बन सकता है। अतः सहिष्णुता सामुदायिक सरसता की पहली कसौटी है। यदि पारिवारिक बिखराव की स्थितियों की समीक्षा करें तो पाएंगे कि सहजीवन में एक-दूसरे को सहन करने की क्षमता के अभाव की फलश्रुति अलगाववाद और टूटन है।

सहिष्णुता है तो सरसतापूर्ण वातावरण का प्रादुर्भाव होगा ही। सहनशीलता भी बहुत आवश्यक है। सास ने बहू से कहा—तुम्हें अपनी जीवन-चर्या में परिवर्तन करना चाहिए। प्रत्युत्तर में सास को बहुत-कुछ सुनाया जाएगा। ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाएगा, जो संभवतः अपने प्रतिपक्षियों के साथ भी नहीं किये जाते होंगे। ऐसी स्थितियों का कारण है—असहिष्णुता। एक-दूसरे के विचारों का सम्मान करने की

मनोवृत्ति का अभाव ही लड़ाई, संघर्ष, कलह और कदाग्रह का कारण बनता है। उसे घटित करने वाला तत्त्व है— विसमभाव। समुदाय में रहने वाले सदस्यों में मति-भिन्नता कोई आश्चर्यजनक और अस्वाभाविक बात नहीं है। सामंजस्य के लिए दूसरे के विचारों को स्वीकार करना अनिवार्य नहीं, किंतु एक-दूसरे के विचारों का सम्मान आवश्यक है।

आवश्यक है सह-अस्तित्व का विकास

वर्तमान समाजशास्त्र में एक वाक्य का काफी प्रयोग हुआ है—सह-अस्तित्व। भगवान महावीर ने भी इस पर बड़ा बल दिया है। न किसी को हीन मानो और न किसी को अतिरिक्त मानो। यह हीनता और अतिरिक्त का मनोभाव ही संबंधों के जगत में दरारें पैदा करता है। इस दुनिया में जन्म लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति में अनंत शक्ति, अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन और अनंत चारित्र का स्रोत अबाधित गति से प्रवाहित हो रहा है। तब अपेक्षा और उपेक्षा की भेदात्मकता का दर्शन क्यों? इसका उत्तर किसी के पास नहीं है। आज जिस निषेधात्मक और संकुचित मनोजगत का निर्माण हो रहा है, उससे महावीर के समाजवादी और सह-अस्तित्व के दृष्टिकोण के पुनर्जन्म की अपेक्षा महसूस हो रही है। सामुदायिक चेतना के विखंडन में सह-अस्तित्व के सिद्धांत को नकारने की मनोवृत्ति ही कार्यकर है। परिवार का प्रत्येक सदस्य पारस्परिक योग्यता का मूल्यांकन करे, एक-दूसरे के अस्तित्व को सर्वात्मना-भाव से स्वीकार करे और निष्पक्षपातपूर्ण व्यवहार करने का संकल्प करे तो महावीर के सह-अस्तित्व के सिद्धांत का पुनर्जन्म हो सकता है।

संशयात्मा विनश्यति

संस्कृत के एक महान कवि ने सामुदायिक स्वस्थता का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया—'संशयात्मा विनश्यति'—यदि तुम शांतिपूर्ण सहवास चाहते हो तो अपने भीतर विश्वास की चेतना को जगाओ। क्योंकि संशयशीलता या संदेहास्पदता ही विनाश का द्वार है। कुछ लोग स्थिति की पूर्ण समीक्षा के अभाव में भ्रांत हो जाते हैं और मानसिक दुख को पाल बैठते हैं। समीचीन चिंतन के साथ यदि हम विचार करें तो सही निष्पत्ति तक पहुंच सकते हैं। हमारी आंख के समक्ष घटने वाली प्रत्येक घटना संपूर्णतया यथार्थ नहीं होती। कभी-कभी प्रत्यक्ष सदृश घटना भी असत्य हो जाती है। आंखें छली जाती हैं। एक आवरण छा जाता है और यह आवरण जीवन-पर्यंत प्रेमपूर्ण रिश्तों में से माधुर्य का अपहरण कर लेता है। महावीर युग का ही प्रसंग है—राजकुमारी चंदनबाला पितातुल्य सेठ धनावाह के चरण-युगलों का प्रक्षालन कर रही थी कि अकस्मात् राजकुमारी के केश-समूह नीचे की ओर चले गए और सेठ ने निष्काम भाव से केश-समूहों को यथा-व्यवस्थित कर दिया। सेठानी मूला इस दृश्य को देख भ्रमित हो गई कि सेठ बाहर से कुछ कहता है, पर भीतर कुछ और ही चल रहा है। बहुत बड़ा विवाद खड़ा हो गया। सारे स्पष्टीकरणों के बावजूद चंदनबाला के साथ सेठानी ने जो व्यवहार किया, उसे सभी जानते हैं। यही चंदनबाला महावीर के हाथों दीक्षित हो महासती चंदना बनीं। बहुत बार होता है कि आंखों के समक्ष घटित घटना संदेह पैदा कर देती है। फलतः कटुता प्रगाढ़ होती चली जाती है। वास्तविकता से जब पर्दा उठता है तब तक समय बहुत गुजर चुका होता है।

अपनाएं दोष-शोधन प्रक्रिया

सामूहिक जीवन के पथ पर प्रशस्त होते कोई भी सदस्य किसी भी क्षण स्खलित हो सकता है। स्खलना अस्वाभाविक नहीं है। व्यवहार जगत में जीवन-निर्वाह करने वाला व्यक्ति पूर्णतः दोषशून्य हो जाए, यह शक्य नहीं है। सामुदायिक स्वस्थता के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति स्खलनाओं से मुक्त हो। संस्कार-शोधन की एक सुनिश्चित प्रक्रिया है, प्रयोग है और उसकी आराधना से घर में स्वर्गिक सुख संभाव्य है। जिनका दृष्टिकोण विधायक होगा, वे संस्कार-शोधन का स्वयं तो अनुसरण करेंगे ही और जो स्खलित हो रहे होंगे उन्हें भी आत्मगवेषणा हेतु अभिप्रेरित करेंगे।

केवल दोषों का, भूलों का, स्खलना का यदि आरोपण करते रहें तो न व्यक्ति में परिवर्तन की संभावना रहेगी और न ही संस्कारों में बदलाव घटित हो सकेगा। जैसे-जैसे आत्म-स्खलना की अनुभूति होती जाएगी, दोष-शून्यता की ओर प्रस्थान होता जाएगा। तेरापंथ धर्मसंघ के अधिप्रवर्तक आचार्यश्री भिक्षु ने इस संदर्भ में बहुत गहनता से विचार किया। उनकी दृष्टि में संघ की सुव्यवस्था और एकसूत्रता के लिए सर्वोपरि आवश्यक है कि संघ के किसी सदस्य द्वारा यदि गलती हो जाए तो धीरतापूर्वक उसकी अनुभूति कराई जाए। जो दोषों का प्रचार करता है, वह बहुल-कर्मी और विश्वासघाती होता है। वह व्यक्ति जो एकांत में उसके प्रमाद को जतला देता है तो वह संघ-हितैषी और यथार्थतः बुद्धिसंपन्न माना जाता है। यही धर्मसंघ के विकास की सोच है। यदि इस चिंतन को सामाजिक संदर्भ में परिस्थापित कर दिया जाए तो संभव है कि परिवारों की टूटन पुनश्च प्राण की समुपलब्धि पा जाए। ❖

अमरफल

शंकर

> एक रात बूढ़ा चुपके से पेड़ के पास गया और पहरेदार की नजर बचाकर बाड़े के अंदर घुस गया। उसने पेड़ से दो फल तोड़े और उन्हें लेकर सीधे घर पहुंचा। घर पहुंचकर उसने और उसकी बुढ़िया, दोनों, ने एक-एक फल खा लिया। इसके बाद वे तुरंत मरने की आशा से बिस्तर पर लेट गए।
> लेकिन दूसरे दिन सवेरे रोज की तरह उनकी आंखें फिर खुल गईं। अपने-आप को जिंदा पाकर उन्हें बड़ा ताज्जुब हुआ। इससे भी बड़ा ताज्जुब तो यह था कि वे दोनों जवान हो गए थे। उनकी पहले की चुस्ती और ताकत भी लौट आई थी।

बहुत समय पहले अवध में एक राजा राज्य करता था। उसके तीन लड़के थे। तीनों बहुत पढ़े-लिखे, बुद्धिमान और गुणी थे।

एक दिन राजा ने अपने तीनों राजकुमारों को परीक्षा लेने के लिए बुलाया। वह यह जानना चाहता था कि किसी दोषी को सजा देने के मामले में उन तीनों के क्या विचार हैं।

'मान लो,' उसने कहा, 'अगर मैं अपने जीवन और सम्मान की रक्षा की जिम्मेदारी किसी को सौंप दूं और वह विश्वासघाती निकले तो उसे क्या सजा दी जानी चाहिए?'

सबसे बड़े लड़के ने कहा, 'ऐसे आदमी की गर्दन फौरन धड़ से अलग कर देनी चाहिए।'

दूसरे लड़के ने कहा, 'मेरा भी यही विचार है। ऐसे आदमी को मृत्युदंड ही मिलना चाहिए। उसके साथ किसी तरह की दया-ममता नहीं दिखाई जानी चाहिए।'

तीसरा लड़का चुप बैठा रहा।

'क्या बात है, मेरे बेटे?' राजा ने उससे पूछा, 'तुम कुछ नहीं बोले, तुम्हारा क्या विचार है?'

'महाराज', छोटे राजकुमार ने कहा, 'यह सच है कि ऐसे कुसूर की सजा मौत के सिवा और कुछ नहीं हो सकती। लेकिन, सजा देने से पहले यह बात साफ-साफ और पूरी तरह से साबित हो जानी चाहिए कि वह सचमुच ही दोषी है।'

'यानी, तुम्हारे विचार से ऐसा न किया गया तो निर्दोष आदमी भी मारा जा सकता है?' राजा ने पूछा।

'हां,' राजकुमार ने जवाब दिया, 'ऐसा हो सकता है। उदाहरण के लिए मैं आपको एक कहानी सुनाता हूं।'

ऐसा कहकर राजकुमार ने यह कहानी सुनाई।

विदर्भ देश के राजा के पास एक अनोखा तोता था। उस तोते का नाम हिमशुक था। वह महल में पालतू पक्षी की तरह रहता था। हिमशुक बड़ा चतुर था। वह कई भाषाओं में बात कर सकता था। बुद्धिमान इतना था कि अकसर राजा भी महत्त्वपूर्ण मामलों में उसकी राय लिया करता था।

हिमशुक पिंजड़े में नहीं रहता था। वह अपनी इच्छा के अनुसार आजादी से घूमता रहता था। एक दिन सवेरे वह महल से उड़कर जंगल की ओर निकल गया। वहां संयोग से उसकी भेंट अपने पिता से हो गई।

'तुमसे मिलकर मैं कितना प्रसन्न हुआ हूं,' उसके पिता ने कहा, 'तुम्हारी मां भी तुमसे मिलकर इतनी ही प्रसन्न होगी। क्या तुम दो-चार दिन के लिए घर नहीं आ सकते?'

'घर आने की तो मुझे भी बड़ी इच्छा थी,' हिमशुक ने कहा, 'मगर इसके लिए मुझे राजा से अनुमति लेनी पड़ेगी।'

महल वापस आकर हिमशुक ने राजा से घर जाने की आज्ञा मांगी। शुरू में तो राजा उसे जाने देने के लिए राजी नहीं हुआ। वह हिमशुक को बहुत मानता था और अपने से अलग नहीं करना चाहता था। पर, अंत में वह मान गया। उसने हिमशुक को घर जाने की अनुमति दे ही दी।

'तुम घर जाकर अपने मां-बाप के साथ कुछ दिन बिता सकते हो,' राजा ने हिमशुक से कहा, 'लेकिन जितनी जल्दी हो सके, लौट आना।'

'बहुत अच्छा महाराज,' हिमशुक ने खुश होकर कहा, 'मैं पंद्रह दिन बाद वापस आ जाऊंगा।'

इसके बाद हिमशुक अपने पिता के पास गया और वे दोनों, साथ-साथ उड़ते हुए, घर की ओर रवाना हुए। इतने वर्षों बाद अपने प्यारे बेटे हिमशुक को देखकर उसकी मां बहुत खुश हुई।

एक पखवाड़े तक अपने मां-बाप के साथ रहने के बाद हिमशुक ने उनसे कहा, 'मेरे ये दिन अपने प्रियजनों के साथ बड़े ही सुख से बीते हैं, मगर अब मुझे जाना होगा। राजा मेरी राह देख रहे होंगे।'

हिमशुक के मां-बाप उसके इतनी जल्दी जाने की बात सुनकर उदास हो गए। परंतु वे उसे रोक नहीं सके। हिमशुक ने राजा से वादा किया था कि वह पंद्रह दिन के बाद लौट आएगा।

'हम राजा के लिए कोई उपहार भिजवाना चाहते हैं,' हिमशुक के पिता ने कहा, 'लेकिन समझ में नहीं आता कि कौन-सी चीज भिजवाएं।'

हिमशुक के माता और पिता दोनों ही इस बात पर विचार करने लगे कि राजा को देने लायक उपहार क्या हो सकता है? कुछ देर सोचने के बाद हिमशुक के पिता ने कहा, 'अहा, मैं समझ गया कि राजा के लिए सबसे अच्छा उपहार क्या हो सकता है। यहां से दूर एक पहाड़ी पर अमरफल का पेड़ है। जो कोई उसका फल खा लेता है वह कभी नहीं मरता और हमेशा जवान रहता है। मैं वहां जाकर एक फल तोड़ लाता हूं। तुम वह फल राजा को दे देना।'

इतना कहकर हिमशुक का पिता उड़ा और कुछ समय बाद जादुई अमरफल लेकर लौट आया। उसने वह फल हिमशुक को दे दिया।

फल लेकर जब हिमशुक राजा के महल की ओर रवाना हुआ तो शाम हो चली थी। थोड़ी ही देर में सूरज डूब गया और चारों ओर रात का घना अंधकार छा गया। हिमशुक ने किसी पेड़ की डाल पर बैठकर रात काटने का इरादा किया। मगर इससे पहले वह उस कीमती फल को किसी सुरक्षित स्थान में रखना चाहता था। किस्मत से उसे एक ऐसा पेड़ मिल गया जिसके तने में एक खोखला छेद था। उसने उस छेद में अमरफल रख दिया और पास की एक डाल पर बैठ सुस्ताने लगा। थोड़ी ही देर में उसे नींद आ गई।

पेड़ का वह खोखला छेद एक जहरीले सांप का घर था। जब सांप लौटकर आया तो उसकी नजर चमकते हुए अमरफल पर पड़ी। उसने सोचा वह शायद कोई खाने की चीज है। सांप ने फल पर दांत गड़ा दिए। मगर उसे फल का स्वाद अच्छा नहीं लगा, उसने उसे वैसा ही छोड़ दिया। लेकिन जिस समय सांप ने फल पर दांत गड़ाए उस समय उसके दांतों से कुछ जहर भी निकल आया। जहर से फल भी जहरीला हो गया।

दूसरे दिन सवेरे हिमशुक ने फल उठाया और अपनी यात्रा पर उड़ चला। राजमहल पहुंच कर उसने राजा से मुलाकात की और अपने मां-बाप की ओर से अमरफल भेंट किया।

उस जादुई फल को पाकर राजा इतना खुश हुआ कि उसने फल खाने से पहले दरबार करने का निश्चय किया। दरबार में उसके मंत्री और राजपरिवार के सभी सदस्य उपस्थित थे। राजा ने सबके सामने फल उठाया, पर जैसे ही खाने के लिए तैयार हुआ कि मुख्यमंत्री ने टोक दिया।

'महाराज, जरा ठहरिए,' मुख्यमंत्री ने कहा, 'बुद्धिमानी की बात यह होगी कि फल खाने से पहले इसे किसी जानवर को खिलाकर देख लिया जाए। यदि जानवर को कुछ न हो तो आप भी इसे खा सकते हैं।'

'सुझाव बहुत अच्छा है,' राजा ने कहा। उसने फल काटा और एक छोटा-सा टुकड़ा एक कौवे की ओर फेंक दिया।

कौवे ने फल खाया और खाते ही मर गया।

'महाराज,' मंत्री ने कहा, 'आज आप बाल-बाल बचे हैं। फल जहरीला है। यह अमरफल नहीं मृत्युफल है। इससे यह भी जाहिर है कि फल खिलाकर हिमशुक आपको मारना चाहता था।'

राजा गुस्से के मारे आगबबूला हो गया। उसने लपक कर हिमशुक को पकड़ा और बिना सोचे-समझे उसकी गर्दन उड़ादी। इसके बाद उसने हुक्म दिया कि उस जहरीले फल को नगर के बाहर एक गहरे खड्ड में दबा दिया जाए।

फल जमीन में दफना दिया गया। मगर कुछ ही समय बाद उसका बीज अंकुरित होकर बढ़ने लगा और बढ़ते-बढ़ते पूरा पेड़ बन गया। कुछ समय बाद उस पेड़ में बड़े ही सुंदर, चमकीले, सुनहरे फल लग आए।

जब राजा ने उस विचित्र पेड़ के बारे में सुना तो उसने कहा, 'वे फल जहरीले हैं, मौत के फल हैं।'

राजा ने हुक्म दिया कि उस पेड़ के चारों ओर एक बाड़ बना दी जाए और हर समय पेड़ की रखवाली की जाए ताकि कोई भी उन जहरीले फलों को न खा सके। मृत्युफल की खबर सारे शहर में फैल गई। जनता को उस पेड़ के पास फटकने में भी डर लगने लगा।

उसी शहर में एक बूढ़ा और उसकी बुढ़िया भी रहते थे। वे बहुत गरीब थे। उनका कोई मददगार भी नहीं था। वे किसी तरह दूसरों की मेहरबानी पर गुजर कर रहे थे। बुढ़ापे के मारे वे इतने कमजोर और असहाय हो गए थे कि भीख मांगने भी नहीं जा सकते थे। अकसर फाके करते रहने से उन्हें ऐसा महसूस होने लगा कि अब जीना बेकार है। दोनों ने सोचा कि ऐसी जिंदगी की बजाय मर जाना कहीं अच्छा है। मरने के लिए सबसे अच्छा यही था कि पेड़ के जहरीले फल खा लिए जाएं।

एक रात बूढ़ा चुपके से पेड़ के पास गया और पहरेदार की नजर बचाकर बाड़े के अंदर घुस गया। उसने पेड़ से दो फल तोड़े और उन्हें लेकर सीधे घर पहुंचा। घर पहुंचकर उसने और उसकी बुढ़िया, दोनों, ने एक-एक फल खा लिया। इसके बाद वे तुरंत मरने की आशा से बिस्तर पर लेट गए।

लेकिन दूसरे दिन सवेरे रोज की तरह उनकी आंखें फिर खुल गईं। अपने-आप को जिंदा पाकर उन्हें बड़ा ताज्जुब हुआ। इससे भी बड़ा ताज्जुब तो यह था कि वे दोनों जवान हो गए थे। उनकी पहले की चुस्ती और ताकत भी लौट आई थी।

राजा ने भी यह अनोखी बात सुनी तो वह भी उन दोनों को देखने गया। उन्हें सचमुच ही जवान देखकर वह दंग रह गया। अब जाकर उसकी समझ में आया कि हिमशुक जो फल लाया था, वह असली अमरफल था। राजा को अपनी जल्दबाजी पर, अपने प्यारे तोते को बेकुसूर मारने पर बेहद अफसोस होने लगा।

❑ ❑ ❑

'इसीलिए मैं कहता हूं,' छोटे राजकुमार ने आगे कहा, 'कि किसी को सजा देने से पहले इस बात का पूरा-पूरा पता लगा लेना जरूरी है कि वह सचमुच अपराधी है या नहीं।'

राजा अपने तीसरे लड़के की बातें सुनकर इतना प्रसन्न हुआ कि उसने उसे युवराज यानी अपना उत्तराधिकारी बना लिया। ❖

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए
जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

With best compliments from :

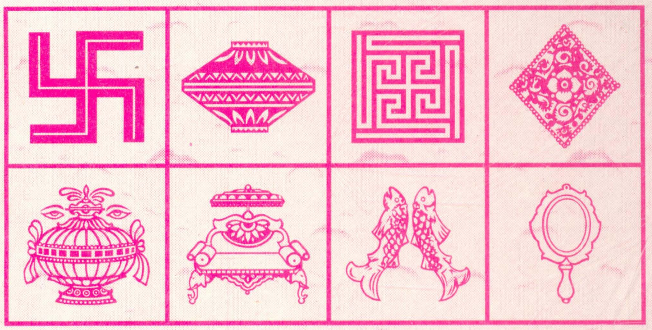

HEMRAJ SAMSUKHA

Vineet Texfab Ltd.

101, Mamulpet, Bangalore 560053
Phone : (O) 22872355, 22253276, (R) 25534815

जैन भारती, मई, 2006 ■ RNI R No. : 2643/57 ■ Postal R.No. : RJ/WR/11/48-BKN/048/06-08 RMS 2006-08
प्रेषण दिनांक 2 मई 06 • Licensed to Post without Pre-Payment Under Licence No. RJ/WR/PP/Bikaner13/2004

With best compliments from :

THE KALYANI TEA CO. LTD.

MAKERS OF FINEST QUALITY OF
GREEN / DRTHODOX / CTC
TEAS

Head Office :
16, Bonfield Lane, KOLKATA 700001
Phone & Fax : (033) 2242-6141

Garden :
Kenduguri Tea Estate
P.O. Rajgarh, Dist. Dibrugarh, Assam
Phone : (03754) 276646 Fax : (03754) 276627

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779
नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।